संत-साहित्य

लेखक

श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', एम. ए.

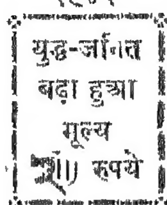


प्रकाशक

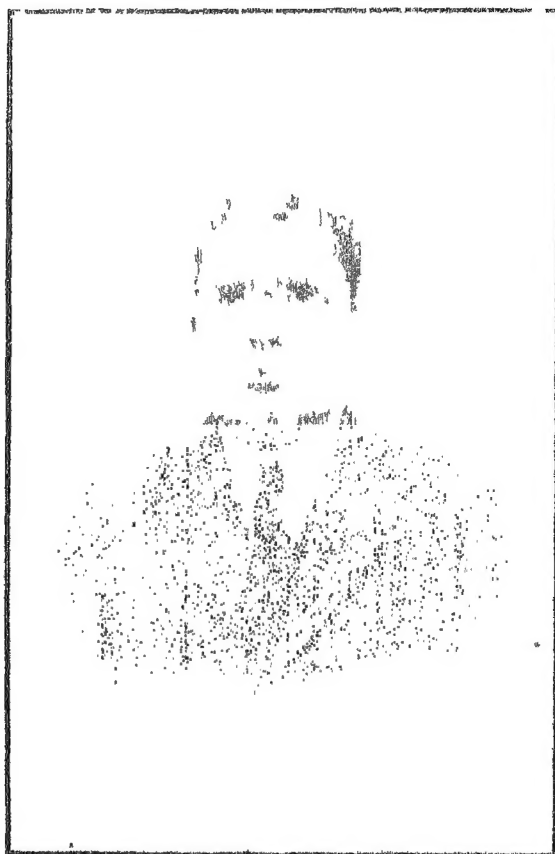
ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर

प्रथम संस्करण २०००

१९४१



देवकुमार मिश्र द्वारा ग्रंथमाला-कार्यालय से प्रकाशित और
हिंदुस्तानी प्रेस में मुद्रित।



स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जिनके चरणों में बैठकर

साहित्य का क, ख, ग सीखा

जिन्होंने हृदय की आँखें खोलकर साहित्य के हृदय का दर्शन कराया

और

जिनके वात्सल्य स्नेह से

मेरा जीवन-पथ चिर आलोकित है

अपने उन्हीं गुरुदेव

आचार्य शुक्लजी

की पुण्य-स्मृति में

प्रस्तावना

पं० श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' जी का 'संत-साहित्य' ग्रन्थ पढ़कर बहुत ही आनन्द हुआ। यह उच्च कोटि के साहित्य का एक विशेष ग्रन्थ है। इसमें महात्मा कबीर से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक के प्रायः सभी निर्गुणोपासक संतों के जीवन-तथ्य और उनकी कविताओं के मर्म बड़े ही सुन्दर ढंग से उद्घाटित हुए हैं। इन संतों में कतिपय सूफी संत भी शामिल हैं।

सगुणोपासक और निर्गुणोपासक संतों की कविताओं के बीच एक बड़ा भारी भेद यह है कि एक के आराध्य और अनुसन्धेय सगुण साकार प्रत्यक्ष मूर्तिमान् हैं, उनका जो कुछ वर्णन किया जाता है; उसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होती, और दूसरे के आराध्य और अनुसन्धेय निर्गुण निराकार अलख निरंजन हैं, उनके विषय में जो कुछ कहा जाता है उनका मर्म सहसा समझ में नहीं आता। यही कारण है कि सगुण भक्तों की रचनाओं का जहाँ इतना प्रचार है वहाँ निर्गुनिये संत एक प्रकार के अज्ञातवास में ही पड़े हैं और उनकी बानियों के रहस्य-माधुर्य तक कोई विरला ही पहुँच पाता है। इन निर्गुनिये संतों में से महात्मा कबीर आदि के विषय में अब-तक जो कुछ लिखा भी गया था उससे उनके रहस्य पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ सकता था। हिंदी-साहित्य में यह 'संत-साहित्य' ही पहला ग्रन्थ है, जिसने इन निर्गुनिये संतों के जीवन-रहस्य पर एक नया प्रकाश डाला है या यह कहिये कि जिसमें संतों ने अपना हृदय खोला है और

उनकी अटपटी बानियों ने अपना आवरण हटाया है। संत-साहित्य की ओर देखने की साहित्यिक-प्रणाली में इस ग्रन्थ ने एक नवीन दृष्टि दी है और एक नवीन सृष्टि की है। निर्गुनिये संतों की यह वह सेवा है जो अबतक किसीसे न बन पड़ी थी और साथ ही हिंदी-साहित्य की एक ऐसी स्थायी सेवा है जिसका मूल्य नहीं आँका जा सकता।

संतों का वर्णन काल-क्रम से हुआ है। एक-एक परिच्छेद में एक-एक संत हैं, संक्षेप में उनके जीवन-तथ्यों का वर्णन है और यह वर्णन इस ढंग से किया गया है कि प्रत्येक संत की चुनी हुई बानियाँ प्रायः जीवन या साधन-प्रसंग के साथ आती हैं और अपना हृदय आप ही खोलकर सामने रखती हैं, उसके लिये बाहर से कोई टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं होती। लेखन-शैली की गति अबाध है, कहीं कोई अटक ही नहीं है, समूचे ग्रंथ में एक ही धारा का अखण्ड प्रवाह है और भाषा इतनी सरस है कि इसमें एक भी वाक्य नीरस नहीं है। यह एक गद्य काव्य है, जिसके सब वाक्य रसात्मक हैं। पद्य-भाग संतों का और गद्य-भाग लेखक का है ; पर दोनों एक ही अभिन्न अखंड स्रोत हैं।

निर्गुनिये संतों का यह साहित्य है, पर इसमें प्रेमवियोगिनी मीरा भी हैं, यद्यपि मीरा निर्गुणोपासक की अपेक्षा प्रधानतः सगुणोपासक ही थीं। पर मीरा का अध्याय इस ग्रंथ में बिना कुछ कहे-सुने एक अति मधुर समन्वय का काम करता है। सगुणोपासक जिन हृदयेश को बाहर देखते हैं, निर्गुणोपासक उन्हींको अपने अन्दर अनुभव करते हैं और निर्गुणोपासक जिन्हें अलख निरञ्जन कहते हैं, सगुणोपासक की आँखें बाहर भी उन्हींको लखा करतीं और उन्हींके आकर्षण का अनुभव

लगाये रहती हैं। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों ही एक दूसरे के साधक हैं, दोनों ही मिलकर पूर्ण हैं। यह पूर्णता इस ग्रंथ में मीरा के अवतारण से साधित की हुई प्रतीत होती है। भाव की गम्भीरता, भाषा की सरसता, रस की परिपुष्टि आदि सभी दृष्टियों से ग्रंथ का यह सर्वोत्तम परिच्छेद है। महात्मा कबीर को प्रेम की बड़ी ही सुन्दर मधुर प्रतिमा के रूप में पेश करनेवाला प्रथम परिच्छेद भी दिव्य है। सब परिच्छेदों के मूल में जो दिव्य साहित्यिक भावना है उसका वर्णन सर्वारम्भ में 'साहित्यिक प्रेरणा' के नाम से जो किया गया है वह दर्शन और साहित्य का बड़ा ही मनोहर समन्वय है; प्रकृति-पुरुष के बीच के अन्तःपट को खोलने की सृष्टि क्रिया का इतना सुन्दर वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। समस्त ग्रंथ ही एक अति रमणीय साहित्य है।

साहित्य की जहाँ शिक्षा होती हो वहाँ, क्रमानुसार, इस ग्रंथ की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिये। भारतीय विश्व-विद्यालयों की सर्वोच्च-कक्षाओं के शिक्षा-क्रम में आदर के साथ इस ग्रंथ को स्थान दिया जाना चाहिये। ऐसा सुन्दर ग्रंथ लिखने पर, लेखन-कला का ऐसा कल्याणकर साफल्य प्राप्त करने पर ग्रंथकार को मैं किन शब्दों में बधाई दूँ? ग्रंथकार की लेखनी धन्य है, इसी प्रकार आगे भी अधिकाधिक धन्य हो।

श्री आर्या दुर्गा निकेतन
पत्थरगली, रतन फाटक, काशी
आषाढ़ शुक्ला ११, ९८ वि०

लक्ष्मण नारायण गर्दे

निवेदन

शैशव में माँ ने अपने हृदय के अमृत के साथ भगवान् का नाम तथा संतों की वाणियों का रस मुझे पिलाया था। वह रस उस अमृत के साथ मेरे शरीर-मन-प्राण में ओत-प्रोत है। समय पाकर वही मेरे हृदय से फूट पड़ा है, मेरी ओर से इसमें कोई आयास नहीं हुआ। हृदय का आनन्द छलक पड़ा है और मैं उसे बाँटने के लिये विवश-सा हो रहा हूँ। यह अमृत-प्रवाह पाठकों के हृदय को सींचकर सराबोर कर दे। अपनी इतनी-सी ही लालसा है।

'माधव'

आभार

'कल्याण' के सर्वस्व स्वनामधन्य श्रद्धेय भाईजी श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार की पुनीत एवं सुमधुर सन्निधि में पिछले आठ-नौ वर्षों से संत-साहित्य के अनुशीलन के लिये विशेष अवकाश, उत्साह, साधन तथा सुविधाएँ मिली हैं। उनके कृपाशीर्वाद के प्रसाद से ही इस ग्रंथ का प्रणयन हुआ है।

हरिभक्ति-परायण पूज्यचरण ऋषिकल्प श्रीमान् पंडित लक्ष्मण नारायण गर्दे ने आशीर्वाद के दो शब्द लिखकर मेरे इस बाल-प्रयास को महत्त्व प्रदान किया है। उनके वात्सल्य स्नेह का अधिकारी होने का मुझे गौरव प्राप्त है।

संतों के जीवन-चरित्र तथा वाणियों के आकलन में मुझे बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित 'संत-बानी-संग्रह' से प्रचुर सहायता मिली है। संतों के काल-निर्णय में मुझे आचार्य क्षितिमोहन सेन के Medieval Mysticism तथा डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के The Nirgun School of Hindi Poetry को कई स्थानों पर देखना पड़ा है। मिस एवलिन अन्डरहिल के Mysticism तथा डॉक्टर राधाकमल मुखर्जी के The Theory and Art of Mysticism ने भाव-विश्लेषण में तथा संत-साधना के रहस्य को हृदयङ्गम करने में सुन्दर साधन जुटाये हैं। मैं इन ग्रंथों के लेखकों का हृदय से आभारी हूँ।

प्रूफ-संशोधन के कार्य में मेरे सम्मान्य मित्र श्रीकृष्ण शम्भु ने मेरी बड़ी सहायता की है तथा यत्र-तत्र आवश्यक संशोधन भी सुझाये हैं।

अन्त में, और बहुत अधिक आभारी हूँ ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना के सुयोग्य संचालक बंधु पं० देवकुमार मिश्र का, जिन्होंने इस ग्रंथ के मुद्रण, प्रकाशन तथा मूल कापी तैयार करने में एक सच्चे मित्र और भाई के नाते सारा भार अपने ऊपर उठाया है। उनके इस हार्दिक सहयोग के बिना शायद यह कार्य पूरा हो ही नहीं पाता। मुद्रण तथा प्रकाशन में इन्होंने जिस उत्साह एवं सुरुचि का परिचय दिया है, वह मेरे जीवन में एक मीठी स्मृति की धरोहर है।

'कल्याण' गोरखपुर
आषाढ़ '९८ वि०

'माधव'

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ



साहित्य की प्रेरणा

एक बाउल संत ने गाया है—

ओपार थेके बाजाओ बाँशी, ए पार थेके शुनि।
अभागिया नारी आमी, साँतार नाहि जानि॥
'चाँद कांजि' बले बाँशी शुने, कैंदे मरि।
जीमु ना जीमु ना, आमि ना देखेले हरि॥

नदी के उस पार से खड़े होकर तुम अपनी बाँसुरी बजा रहे हो और मैं इस पार खड़ी रहकर उसकी मधुर ध्वनि को सुन रही हूँ। ऐ प्रियतम! क्या तुम जानते नहीं हो कि मैं अभागिनी तैरना नहीं जानती? मैं बंशी के नाद को सुनकर व्याकुल हो रही हूँ; श्रीहरि का दर्शन किये बिना मैं जी नहीं सकती।

माँ की गोद में सोये हुए बच्चे की आँखें अचानक खुलीं और उसने आकाश की ओर देखा। तारों से जगमग आकाश शिशु के खेलने का आँगन बन गया। बालक तारों से खेलने लगा। बस, इसी क्रीड़ा-रहस्य में ही साहित्य की मूल प्रेरणा स्पंदित हो रही है। मेरा 'अहं' है और है यह समस्त विश्व। विश्व की विविधता में मेरा 'अहं' अपना रूप देखना चाहता है। प्रतिपल मेरा यह व्याकुल अतृप्त अहं अपने विराट् रूप में लय होने के लिये टकराता फिरता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से अथवा 'वासुदेवः सर्वमिति' से ही इसको बोध नहीं होता; यह तो स्वयं इस ज्ञान को लाँघ जाना चाहता है और स्वयं ब्रह्म या वासुदेव बन जाना चाहता है। जब तक यह इस महासागर में मिल नहीं जाता—तदाकार तद्रूप तल्लीन नहीं हो जाता, तब तक नक्षत्रों से टकराता है, उषा के अरुण कोमल कपोलों को चूमता है, कलियों के हृदय का मर्म खोलने की चेष्टा करता है, पँखुड़ियों पर प्राणों को थिरकाता है, तरुणी के अधर-पल्लवों पर अपना हृदय उँड़ेलता तथा अलकों में बँधता और बरौनियों में उलझता है।

यह सब कुछ निरवगुण्ठन की प्रक्रिया है। पर्दे के भीतर से 'कोई' अपनी रूप-आभा की श्री-किरणें बिखेर रहा है। दूर-सुदूर देश से वंशी की मीठी-मीठी ध्वनि आ रही है। 'नाम समेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम्' एक अपार आनन्दसागर उमड़ रहा है; और वहाँ उस परियों के अपरिचित देश में हमारे प्राणवल्लभ का चिर रास हो रहा है। हम यह सब संकेत देखते-सुनते हैं—कुछ अस्पष्ट, कुछ अस्फुट! रमणी के अधखुले अंचल से उसकी लावण्यश्री का आकर्षण, कलियों का अध-

खुली आँखों से इस विश्व की ओर झाँकना, मुरली के मोहक स्वर पर अल्हड़ मृगशावक का मृत्यु की गोद में हँसते-हँसते छलाँग मार जाना, दीपक की लौ पर शलभों का प्रीतिपूर्वक प्राण-विसर्जन—ये सब उसी निरवगुण्ठन-प्रक्रिया के कोमल तंतु हैं।

हमारा यह लघु जीवन अपने अनन्त-पथ पर चलकर निरवगुण्ठन की प्रक्रिया में ही लगा रहता है। सब कुछ खोलना ही है। प्रत्येक पल, प्रत्येक पदार्थ में चिक हटाने की ही क्रिया हो रही है। हम सोते हैं और हमारी मुँदी आँखों के भीतर भी एक संसार स्वप्नों के सागर पर सिर उठाता है; हम जागते हैं और इस खुले व्यक्त रूप के भीतर से भी कोई हमारा 'अपना' हमें अपने में मिलाने के लिये बुला रहा है—और यह दृश्य-जगत् उसका एक संकेत है—एक इशारा है, एक 'मौन निमन्त्रण' है। यदि हम केवल शरीर ही शरीर होते तब तो कुछ बात ही न थी। हमारी इस बनने-मिटनेवाली काया के भीतर जो अमर हंस कुलेल कर रहा है—वही हमें शान्त नहीं बैठने देता—वही हमें यहाँ के ललचीले बाजार में बिरमने नहीं देता। शरीर तो सुख-दुःख के थपेड़ों में भी इसी 'हंस' का शिकार बना हुआ है। वह इस अमर ज्योति का बन्दी बनकर अपने भीतर की भूख-प्यास की संतृप्ति के लिये आगे बढ़ता ही जाता है। 'हंस' परमहंस से मिले बिना रुकेगा नहीं, रुक नहीं सकता। संसार की—नहीं-नहीं, स्वर्ग की भी कोई सम्पदा, कोई विभूति, कोई आकर्षण इस अनिवार्य पंछी को लुभा नहीं सकती, बाँध नहीं सकती, बिरमा नहीं सकती। तो यह पंछी [illegible] ? यह हमें चुपचाप बैठने नहीं देगा ? खोजो और फिर खोजो, खोजते रहो और खोजते-

खोजते इस मिट्टी की काया को सदा के लिये मिटा दो—मुझे स्वतंत्र कर दो, मुक्त कर दो—मैं उड़ जाऊँ अपने 'साजन' के देश में...। बस, यही भीतर कुरल करनेवाले 'हंस' के शब्द हैं। भीतर का पंछी जब इस प्रकार अपने 'साईं' से—अपने प्राणाराम से मिलने के लिये मचल उठता है तो फिर......!! समस्त साहित्य चाहे वह कविता में हो, उपन्यास में हो, नाटक में हो, कहानी में हो— भीतर के पंछी की इस मचलन, इस कसमसाहट की अभिव्यक्ति है।

साहित्य दर्शन का सहोदर भाई है और इन दोनों में अपार आत्मीयता है। साहित्य जब दर्शन की आँखों से देखता है, तभी उसका जादू कारगर होता है। साहित्य की सहज मिठास में जब दर्शन की प्राञ्जल दृष्टि होती है तभी वह 'आँखवाला' समझा जाता है। दर्शन की निगूढ़ गुत्थियाँ जब साहित्य का मधुर चोला धारण करके आती हैं, तभी वे हृदय में सीधे तीर के समान चुभ जाती हैं। एकेश्वरवाद, द्वैतवाद, और अद्वैतवाद आदि 'वादों' की उलझनें जब प्रिया और प्रियतम के रूप में, 'लाल' की लाली के रूप में आती हैं, तो वे सीधे हमारे हृदय में घर कर लेती हैं। सूफी साहित्य की अतुल मिठास और अमोघ प्रभविष्णुता का यही प्रधान कारण है। हृदय को बेधे नहीं, वह साहित्य कैसा? प्राणों को अपने में डुबा न ले, वह दर्शन कैसा? साहित्य और दर्शन एक ही पन्ने के दो पृष्ठ हैं। एक दूसरे के बिना टिक नहीं सकता।

यह सब होते हुए भी एक सावधानी तो रहे ही। कहीं साहित्य अपनी अनन्त, चिर अमर सत्ता की नींव को दृढ़ करने के लिये दर्शन का आश्रय न ले—साहित्य दर्शन बनने के लिये न ललचे; साहित्य अपने ही निखरे हुए रूप में रहे। मेघदूत और

शकुन्तला को आत्मा की अतृप्त लालसा के रूप में देखनेवाले भले ही देखें और उसमें 'अपनी बात' खोज निकालें ; परन्तु कवि का प्रेमिल हृदय तो यक्ष के विरह में ही भिंगा रहे और शकुन्तला के प्रत्याख्यान में ही तड़पता रहे। कवि को ईश्वर का ऐश्वर्य नहीं चाहिये—विराट् नहीं चाहिये ; कवि तो ईश्वर का प्रेम ही पियेगा—उसका मधुर मनोहर रूप ही देखेगा।

कण्व के आश्रम की अल्हड़ शकुन्तला पर कामातुर दुष्यन्त ने वासना के विष-बुझे बाणों पर प्रेम का पानी चढ़ाकर संधान किया। 'आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः' का संकेत दुष्यन्त भूल गया। भोली आश्रम-कन्या संसार के द्वैत को क्या भला समझे; वह जाल में आ गयी, वह शिकार हो गयी ! उसने उस उद्धत कार्य में भी एक अतृप्त प्रेम की झाँकी पायी। काम काम ही था—प्रेम के नाम पर वह कितने छन ठहरता—उस अल्हड़ कन्या के अनाघ्रात कुसुम के समान पावन हृदय पर दुष्यन्त (नाम भी कवि ने कितना सोच-समझकर रखा है!) कलंक का धब्बा लगाकर लौटा और अपने राजपाट में बे-सुध हो रहा। सुध लेने की भी सुध न रही। दुष्यन्त के काम को दुर्वासा के क्रोध-अभिशाप का वरदान मिला; अन्यथा वह मुँह दिखाने लायक भी कैसे रहता? जब विदा करने की बारी आयी, तो कण्व का हृदय रो पड़ा। सखियों ने अँकवार दिये। प्रियम्वदा (नाम भी कितना मोहक है !) ने धीरे से कहा—"सखि ! जब प्राणनाथ तुम्हें न पहचानें, तो उनकी दी हुई अँगूठी दिखाना।" शकुन्तला का हृदय किसी भावी अपशकुन की आशंका से दहल उठा। उसने सशंकित दृष्टि से—कुछ निर्वेद, कुछ चिन्ता और कुछ विकलता की दृष्टि से अपनी सखी की ओर देखा......आह ! पता नहीं क्या होनेवाला है ! वह 'शकुन्तला' का सब से

कोमल मर्मस्थल है ! नारी-हृदय कितना अल्हड़, कितना विश्वासी होता है ! नारी सदैव अपनी हार ही देखती है और इसीसे उसका हृदय सदैव कोमल तथा करुण-प्रवण होता है । नारी को सदा अपनी पराजय का ही संबल है । वह बिक जाना जानती है—ग्राहक उस बिके हुए सौदे को अपने घर ले जाय या कूड़े में फेंक दे । वह अपना हृदय फैला देती है, वह अपना प्राण बिछा देती है ; 'अतिथि' भले ही उस बिछे हुए हृदय की ओर एक दृष्टि भी न डाले—उसपर चलने की तो बात ही क्या है !

शकुन्तला के हृदय में एक भावी शंका उत्पन्न करके कवि ने पाठकों के हृदय पर विषाद का एक कुहरा फैला दिया है । इस कुहरे के उस पार प्राणेश्वर का देश है और पता नहीं कभी उसके शीश-महल में पहुँचना होगा या नहीं । और, सबसे बड़ी कसक तो यह है कि पहुँच भी जाऊँ तो 'वह' पहचान सकेगा या नहीं ; अंगीकार करेगा या नहीं ! देवता पर चढ़ाया हुआ पुष्प अपना निर्वाण देवता के चरणों के अतिरिक्त कहाँ पा सकेगा ? सर्वस्व समर्पण के अनन्तर अपनी आराधना की स्वीकृति-अस्वीकृति में ही साधक को एक हल्की-सी शंका हो जाय—और 'अतिस्नेहः खलु पापशंकी'—प्रेमी सदा अनिष्ट की आशंका किया करता है—ऐसी आशंका बनी रहने के कारण प्रेमी का हृदय जब दहल उठे, तो उस अल्हड़ कन्या का क्या दोष ? प्रेम में बिंधे हुए हृदय को लोक-परलोक की परवा करने का समय ही कहाँ है—अवकाश ही कहाँ है ? शकुन्तला अपने 'प्राण' के ध्यान में डूबी हुई थी—उस समय दुर्वासा के आने न आने की सुध ही उसे कहाँ थी ? वह उस समय यदि अपने हृदय पर पत्थर सरकाकर इस क्रोधी अतिथि का स्वागत करने उठती, तो हम उसकी तन्मयता पर कैसे विश्वास करते ?

अभिशाप के कुहरे को चीरकर शकुन्तला की प्रीति अनन्यता के पथ पर चल पड़ी है। अभिशाप से वह एक क्षण के लिये भी धूमिल नहीं हुई, प्रत्युत अधिकाधिक निखरकर चमकी ही है। अभिशाप प्रेम पर विजय नहीं पा सका, वह उसके चरण-प्रान्त में मूर्छित होकर पड़ा हुआ है। प्रेम तो वह, जो अपने 'सर्वस्व' में अपना सर्वस्व होम कर दे—लोप कर दे! शकुन्तला दुर्वासा का स्वागत न कर हमारे हृदय के प्रेम-देश की अधीश्वरी बन गयी! और अभिशाप? अभिशाप ने तो बराबर प्रेम को ग्रसने की चेष्टा की है; ऐसा प्रतीत हुआ है कि प्रेम का चंद्रमा अब डूबा, अब ग्रसा; परन्तु ये पटल टिकनेवाले नहीं थे। अभिशाप को चीरकर प्रेम की आभा विकीर्ण हुई; दैव पर इसीको प्रेम की विजय कहते हैं। प्रेम के उन्मद, प्रखर वेग में अभिशाप और वरदान लोक और परलोक की शिलाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसके बाद प्रत्याख्यान-वाली घटना तो साधारण मालूम होती है। वह हृदय पर उतनी चोट नहीं करती जितनी प्रियम्वदा से विदा लेते समय शकुन्तला की शङ्का और उसके निवारणार्थ अँगूठीवाली बात; कारण कि इस प्रकार की दुर्घटना की दुराशंका हमें पहले ही से हो रही थी और हम इसके लिये तैयार-से थे।

कण्व के आश्रम में 'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी' का मोहकरूप जब मरीच के आश्रम में 'धृतैकवेणी' तपः परायण साधनामय साकार समर्पण की [illegible] है, तो किसका हृदय रो नहीं उठता? [illegible] सीता का परित्याग और निर्वासन ही तो महर्षि वाल्मीकि के हृदय में घर किये हुए था। क्रौंच मिथुन बस तो एक निमित्त बन गया। ऋषि के ही साथ नहीं, अपितु समस्त विश्व के साथ जब

हृदय की व्यथा छलकने के लिये मचल उठती है, तो शोक श्लोक बनकर निकल पड़ता है। राधारानी नटवर के कंधे पर चढ़नेवाली थीं कि छलिया खिसक गया और उन्हें ऐसा रोना पड़ा कि वे ही जानती हैं। सहज नारी-कुतूहल में उमा ने दशरथ-नन्दन राम का विश्व-नियन्ता रूप देखना चाहा और इसी एक साधारण वृत्ति-चंचलता का परिणाम हुआ चिर काल के लिये पार्वती का परित्याग। यही करुणा का कोमल संसार है।

साहित्य का वास्तविक निर्माण समन्वय में ही होता है—यह समन्वय दर्शन के क्षेत्र में कर्म, भक्ति और ज्ञान की एकात्मिकता सिद्ध करता है; परन्तु साहित्य में आकर 'सत्यं शिवं-सुन्दरं' बन जाता है। दार्शनिक सत्य की संत शिव की और कवि सुन्दर की साधना करता है। एक बात भूलने की नहीं है, सत्य तभी सत्य है जब उसमें शिव और सुन्दर घुले-मिले हैं। अप्रिय सत्य को इसी हेतु अस्वीकार किया गया है। शिव में भी सत्य और सुन्दर का समन्वय स्वयं सिद्ध है।

अब कवि के 'सुन्दर' पर आइये। सुन्दर का जादू सीधे हृदय पर चलता है। कवि हृदय का ही आश्रय लेकर हृदय को बेधता है। कवि का साधन भी है हृदय और लक्ष्य भी है हृदय। प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य में भिने हुए अपने हृदय की कसमसाहट को कवि बाँटने के लिये मचल जाता है। वह अपने हृदय को उषा की सलज्ज अरुणिमा में सहलाता है और खिले हुए पुष्प की सुरभि में नहलाता है। हृदय इस प्रकार जब रस से भर जाता है, तो उसे कभी कविता में, कभी कहानी में, कभी उपन्यास में और कभी नाटक में व्यक्त कर लेखक अपने 'हृदय का मधुर भार' उतारने की चेष्टा करता है। और, पराकाष्ठा पर

आकर भाव संगीतमय हो जाते हैं। सुललित शब्दों की भीड़ लग जाती है। कभी कभी तो इस भीड़ में से एक को चुन लेना बहुत ही कठिन हो जाता है।

यह चर और अचर हमारे प्राणनाथ की रूप-राशि है। प्यार न करने पर भी जो प्यार करता है, याद न करने पर भी जो याद करता है, उस चिरकाल के सखा को, जीवन-मरण के के चिर-सहचर को— जिसका रूप स्वर्ग से लेकर मृत्युलोक तक समाता नहीं—आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र सभी में उसके रूप का बाजार लग रहा है, न मालूम कब से कितने लोग देखते चले आ रहे हैं; परन्तु किसीने उस रूप की थाह नहीं पायी, किसीको कभी यह रूप पुराना नहीं लगा। वह नयनों को हरने और हृदय को शीतल करनेवाली शोभा! उसमें कभी कोई कमी नहीं हुई। जिसने देखा, वही पागल हो गया—अर्थ, रूप, यौवन, यश आदि सबका मोह छूट गया। हमारी आँखों पर झीनी-सी चादर लगी हुई है, जिससे छन-छनकर उस रूप की आभा आ रही है, परन्तु हम प्रत्यक्ष अपने 'पिय' को देख नहीं पाते—पूरी तरह उसे पकड़ नहीं पाते। इसे ही जायसी ने 'पिउ हिरदय महँ भेंट न होइ' कहा था। यही हमारी कसक है। यही जीव-जीव की व्यथा है। इस पर्दे को जो साहित्य जितना ही अधिक, साथ ही साथ जितना सहज, अज्ञात अलक्ष्य-रूप से हटाने में सफल हुआ है, वह उतना ही ऊँचा साहित्य है। निरवगुण्ठन की यह क्रिया उपनिषदों में यत्र-तत्र बड़ी मार्मिकता से अंकित है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् तत्वं पूषन्न-पावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

सुनहले ढकने से सत्य का मुँह ढका हुआ है। हे सूर्य! इस ढकने को हटा दो जिससे मैं उस सत्य-धर्म का साक्षात्कार कर सकूँ।

बस, सब कुछ खोलना ही खोजना है। सब कुछ घूँघट का पट खोलने की ही चेष्टा है। 'जल्वये इश्क' को पी जाने की ही समस्त साधना है। साहित्य आदि काल से ही इस चिक को बड़ी सुन्दरता और बड़े मीठे ढंग से हटाता आ रहा है। निरवगुण्ठन ही साहित्य की मधुरतम साधना है। इसे खोलने में ही मीरा, कबीर, दादू, सूर, तुलसी, जायसी आदि ने हाथ बटाया है और आज का साहित्य भी अपनी इसी अनन्त अविरल चेष्टा में संलग्न है। एक बार, बस एक बार घूँघट उठाकर हम अपने 'यार' को देख लें—आँखों में आँखें, अधरों में अधर, प्राणों में प्राण और आत्मा में आत्मा को मिलाकर उसमें ही लोप हो जायँ, डूब जायँ—साहित्य सदा से इसीकी चेष्टा करता चला आ रहा है।

संत-साहित्य

कबीर का हृदय

> सुनु सखि पिउ महँ जिउ बसे,
>
> जिउ महँ बसै कि पीउ ?

कबीर की अटपटी 'बानी' के भीतर पैठकर उनके हृदय की निगूढ़ व्यथा का मर्म समझना बहुत आसान नहीं है। कबीर के सम्बन्ध में हमारी बड़ी विचित्र धारणा है। कबीर को प्रायः नीरस, शुष्क, अक्खड़ महात्मा समझा जाता है। संसार के प्रति कबीर का जो दृढ़ वैराग्य है, उसकी ही ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ, प्रेम से भिने हुए कबीर के हृदय की कसमसाहट को किसीने देखने की चेष्टा ही नहीं की। 'नइया में नदिया बही जाय' तथा 'बरसे आँगन भीजे पानी' की ओर बार-बार संकेत कर हमने कबीर को ऊटपटाँग महात्मा जानकर सन्तोष कर लिया। इन उलट-बाँसियों से लोगों का मन एक कुतूहलमात्र हुआ। कबीर के साथ अभी हमारा परिचय सर्वथा अपूर्ण है, अधूरा है।

कबीर की साधना के दो अंग हैं—इस 'दुःखालय' और 'अशाश्वत' जगत् के बनने-मिटनेवाले बाह्य रूप के प्रति कबीर का अत्यन्त दृढ़ वैराग्य है। उनकी भावना प्रबल है कि 'रहना नहिं देश बिराना है।' यह संसार जिसके प्रति हमारा अपार आकर्षण है, पानी के बुलबुले की भाँति क्षणभङ्गर है। कबीर ने जगत के असली रूप को खूब अच्छी तरह ठोक-बजाकर देख लिया; परन्तु इससे वे परास्त नहीं हुए। मृत्यु, विनाश, सीमा, परिवर्तन और विकार को पाकर कबीर ने 'परम पुरुष' के संस्पर्श-सुख को अपने अन्तस्थल में अनुभव किया। इस ब्रह्म-संस्पर्श के उन्मादकारी मधु में कबीर ने अपनी साधना को अभिसिञ्चित किया है। कबीर ने सच्चे आनन्द का रस पिया और घूँघट का पट हटाकर अपने प्राणवल्लभ का आलिङ्गन किया। मृत्यु के उस पार प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द की जो त्रिवेणी लहरा रही है उसमें कबीर ने अपनी आत्मा को नहलाया। उस अमर ज्योति से कबीर के जीवन का प्रतिपल और उनके विश्व का कण-कण उद्भासित हो रहा है।

> सोवौं तो सुपने मिलै, जागौं तो मन माहिं।
> लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥
> गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
> चहुँ दिस दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥

कबीर 'क्रान्तदर्शी' आत्मज्ञानी संत थे। उन्होंने 'उस पार' को देखा और जगत् को वेधती हुई उनकी दृष्टि वहीं जाकर ठहरी जहाँ 'परम पुरुष' का रंगमहल है; जहाँ सत-चित-आनन्द का ही साम्राज्य है।

> सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
> बलिहारी वा घट्ट की जा घट परगट होय॥

ज्यों तिल माँही तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सके तो जागि ॥

ऊपरी ऊपर तो जगत् में हाहाकार, अशान्ति और विरोध तथा विषमता की आग धधक रही है। परन्तु, जिन्होंने इसके बाह्य रूप को भेदकर अन्तर में प्रवेश किया है, उनके लिये यही संसार आनन्द और शान्ति का आगार है। यह जो कुछ भी है, वह परमात्मा से ओतप्रोत है, इस जगत में जो कुछ भी 'जगत्' है वह प्रभुमय है, हरि का रूप-विलास है —**'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'**। इसे समझने के लिये आवश्यकता है। अपने भीतर डूबकर अपनी वास्तविक आत्म-सत्ता का साक्षात्कार करने की। कबीर इसे ही 'पिय का परिचय' कहते हैं—

पिउ परिचय तब जानिये, पिउ से हिलमिल होय।
पिउ की लाली मुख पड़े, परगट दीसे सोय ॥
लिखा-लिखी की है नहीं, देखा-देखी की बात।
दुलहा-दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात ॥

यह साक्षात्कार, यह प्रिय-मिलन बहुत ही कठिन, बहुत ही दुर्लभ है। यह सिर का सौदा है। इसके लिये कबीर ने ललकारते हुए कहा है कि यदि प्रभु का साक्षात्कार करना है, तो अपने ही हाथों अपना सिर उतार कर रख देना होगा और उस पर पैर देकर भीतर आना होगा। मिलन के इस आनन्द को राजा-प्रजा जिसे भावे वही सीस देकर पा सकता है। एक बार परम आनन्द के इस अमृत तत्त्व के संस्पर्श में जो आ गया, वह जन्म जन्मान्तर के लिये निहाल हो गया। आठों पहर वह इसी रस में भीना रहता है और उसका रोम-रोम प्रेम में छका रहता है। पुतली में दिलदार की तसवीर जब उतर आयी, तो फिर घूँघट का पट भी आप ही हट गया और—

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय॥

आँखों की कोठरी में पुतली का पलंग बिछा दिया, बाहर से पलकों की चिक डाल दी और रंगमहल में पिय को रिझा लिया। हृदय के भीतर जब प्राणवल्लभ की रूप-श्री उमड़ आयी, तो आँखें उसे कैद करने के लिये मचल पड़ीं। कई जन्मों के भूखे-प्यासे प्राणों ने उसमें 'हाँ' भरा और फिर क्या था—

चढ़ी अखाड़े सुन्दरी, माँड़ा पिउ से खेल।
दीपक जोया ज्ञान का, काम जरै ज्यों तेल॥
नैनों अन्तर आव तूँ, नैन झाँपि तोहिं लेवँ।
ना मैं देखौं और को, ना तोहिं देखन देवँ॥

कई जन्मों से तुम्हें ढूँढ़ता चला आ रहा था। आज मेरे भाग्य खुले—तुम्हारे दर्शन हुए। अब तो मैं तुम्हें अपनी आँखों में बंद किये बिना न रहूँगा। मुझसे अब तुम्हारा वियोग सहा नहीं जाता। आओ, इन आँखों में तुम्हें छिपा लूँ, झाँप लूँ। न मैं ही और किसी को देखूँ और न तुम्हें ही दूसरे को देखने दूँ। सती नारी अपने प्राणवल्लभ पति के हाथों में अपने को सौंपकर, सर्वथा उसकी ही होकर, अपने जीवनधन पर भी एक अपूर्व अधिकार का अनुभव करती है। उसकी प्रतिपल की यही कामना होती है कि मैं इनकी होकर रहूँ और 'ये' भी केवल मेरे ही होकर रहें। अनन्यता की इस अगाढ़ विभोर अवस्था में कबीर ने 'हरि मोर पिउ मैं हरि की बहुरिया' कहा था। 'ढाई अच्छर प्रेम का' यही है।

जब तक विवाह नहीं हुआ होता तब तक कन्याओं का मायके में अटूट अनुराग रहता है। वे रात-दिन गुड़ियों के खेल में मस्त

रहती हैं। परन्तु, जहाँ माँग में सिन्दूर पड़ा और 'वर' के साथ ग्रन्थिबन्धन हुआ, वहीं उसके गुड़ियों के खेल समाप्त हो जाते हैं। सच्चे खेल में प्रवेश करते ही झूठे खेलों से नाता आप ही आप टूट जाता है। गुड़ियों के खेल खतम होनेपर भी मायके से स्नेह बना ही रहता है। वह जानती है—प्रतिपल अपने हृदय में अनुभव करती है कि उसका 'घर' कहीं और है, जहाँ 'साजन का देश' है। अपरिचित और अनजान देश में जाने की कल्पना से ही वह एक बार सिहर उठती है; परन्तु तुरन्त ही उसे ध्यान हो आता है—'अरे वह देश मेरे लिये अपरिचित कैसे जहाँ स्वयं मेरे प्राणाधार और जीवन-सर्वस्व बसते हैं। मैं तो उनकी ही, केवल उनकी ही हूँ। वे मुझे जहाँ रक्खें, जिस प्रकार रक्खें—अपने चरणों में रक्खें। बस, यही परम सान्त्वना है, यही परम सुख है। उनके चरणों की शरण में जहाँ भी रहूँगी, वहीं मेरे लिये सच्चा सुख है—वही मेरा अपना देश है।'

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलत नाहिं॥

यह सब होते हुए भी जब 'वह' लिवाने आता है, तो मायकेका प्रेम उमड़ ही आता है; माता-पिता का वियोग हृदय को रुला ही देता है। साजन के देश में पहुँचकर भी 'संकोच' बना ही रहता है और अपनी ओर से घूँघट सरकाये नहीं सरकता। हमारी बेबसी को हमारा प्राणाधार खूब जानता है और इसीलिये आवरण भंग (Lifting of the Veil) का मनोहर और प्रिय कार्य उसे ही करना होता है, और वह करता भी है इसे बड़े ही आवेगपूर्ण उल्लास और उन्माद प्यार के साथ! प्राणनाथ द्वारा घूँघट का पट उठना कितना सुन्दर, कितना मधुर है!!

मिलन-काल की वह कोमल मंगल पुलक! सारा संसार जब

प्रगाढ़ निद्रा में बेसुध होकर सो रहा था, उसी समय प्रीतम ने पैरों की चाप छुपाकर धीरे-धीरे हृदय का पर्दा हटाकर 'भीतर' प्रवेश किया, स्वप्न में प्रीतम मिले। उन्होंने सोते हुए 'कबीर' को जगा दिया। एक मधुर-मधुर शीतल स्पर्श ने कबीर की आत्मा को जगा दिया—रोम-रोम जाग उठे! आँखे खोलते यह भय लगता है कि कहीं 'वह' छोड़कर चला न जाय—

सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मति सुपना ह्वै जाय॥

आध्यात्मिक परिणय हुए बिना प्रभु में हमारा वास्तविक समर्पण हो नहीं सकता। गीता में 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का जो उल्लेख है, उससे यह स्पष्ट है कि सर्वात्म श्रीकृष्णार्पण हुए बिना 'मामेकं शरणं व्रज' असम्भव है। समर्पण तो एकमात्र पत्नी का पति में ही होता है। अन्य सभी सम्बन्धों में द्वैत का पूर्णतः लय नहीं हो पाता। पत्नी अपने नाम-गोत्र को, अपनी आत्मा को अपने पति में एक कर देती है। वह अपने शरीर, मन, प्राण, हृदय पर से भी अपना अधिकार हटा लेती है। वह समग्ररूप से, सर्वभावेन पति के चरणों में अपने को अर्पण करती है। हृदय के समर्पण के साथ ही सर्वत्र अखण्डरूप से 'प्राणनाथ' के दर्शन होने लगते हैं जिसकी मधुर-मधुर अनुभूति को कबीर ने यों व्यक्त किया है—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।

अहर्निश का यह मधुर मिलन हृदय के रेशे-रेशे में ओत-प्रोत है। बाहर-भीतर केवल 'प्रीतम' ही रह जाता है। आँखें मूँदकर भीतर के संसार में, आँखें खोलकर बाहर की दुनिया में जहाँ भी दृष्टि जाती है, केवल हरि ही हरि हैं। स्वयं भक्त की निजी

सत्ता भी उस अपार आनन्द-राशि में लय हो जाती है। उसे अपनी भिन्न सत्ता का कभी बोध ही नहीं होता। यह स्थिति द्वैत और अद्वैत की भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकती—

कबीर प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय॥
सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सके, कै साईं कै चित्त॥
प्रीति जो लागी घुल गयी, पैठि गई मन माहिं।
रोम-रोम पिउ-पिउ कहै, मुख की सरधा नाहिं॥

आध्यात्मिक परिणय के—जिसे वल्लभ सम्प्रदाय में 'ब्रह्म-सम्बन्ध' अथवा 'ब्रह्म-संस्पर्श' कहते हैं, कई सोपान (stages) हैं। सबसे पहले स्मरण (recollection) होता है। स्मरण का अर्थ है—स्मृति का ध्येय में तद्रूप हो जाना। यह तद्रूपता धीरे-धीरे इतनी घनीभूत हो जाती है कि अन्तःकरण अपनी स्वस्थ स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है। उस समय निश्चलता (quiet) प्राप्त होती है। मन प्राणप्यारे के सिवा कहीं हिलता-डुलता ही नहीं; उसे छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहता। निश्चल मन प्रभु को प्राप्त कर लेता है और तभी मिलन (union) होता है। मिलने में आनन्द की विभोर दशा की अधिकता हो जाती है और भीतर ही भीतर निर्भरता से मिली हुई अपूर्व उन्मत्तता (ecstasy) का आविर्भाव होता है। यह उन्मत्तता सर्वथा अलौकिक है। यह मिलन-जन्य आनन्द एवं आत्मविस्मृति की विभोर दशा है। उन्मत्तता में अपने शरीर की सँभाल स्वयं छूट जाती है और भक्त भगवान् में उसी प्रकार लय हो जाता है जिस प्रकार पानी में रंग, दूध में मिश्री या समुद्र में नमक। यह स्थिति तन्मयता (Rapt) की है। यहाँ भक्त की संज्ञा 'प्रेमी' की हो जाती है और उसे भगवान् का विरह (pain of

God) प्रसाद रूप में प्राप्त होता है। इस प्रसाद को पाकर प्रेमी सर्वशून्य होकर, निरावरण होकर एकमात्र भगवान् का हो जाता है। कबीर का हृदय आठों पहर इसी रस में भिना हुआ है। यही आध्यात्मिक परिणय है।

आध्यात्मिक परिणय के अनन्तर साधक की एक बड़ी विचित्र स्थिति हो जाती है। उसे परमात्मा के मिलन का आनन्द प्राप्त हो जाता है और उसका हृदय उसी रस में सराबोर रहता है। वह एक पल के लिये भी उससे बाहर नहीं आता। वह संसार का तिरस्कार अथवा अनादर भी नहीं करता। जो जगत् प्राणप्यारे का बनाया हुआ है, जिसके जर्रे-जर्रे पर प्रियतम की छाप लगी हुई है और जिसकी ओट से 'वह' स्वयं झाँक रहा है, उस जगत् के प्रति अश्रद्धा का भाव कैसे और क्यों हो? प्रिय की सभी वस्तुएँ प्यारी होती हैं। हर समय और हर स्थान में साधक अपने 'देवता' की मधुर उपस्थिति (divine presence) का अनुभव करता है और इस अनुभूति में ही वह सुध-बुध खोकर मारा-मारा फिरता है। प्रेम के इसी अमृत को पीकर मंसूर हल्लाज हँसते-हँसते सूली पर लटक गया और मीरा जहर का प्याला भगवान् का चरणामृत समझकर पी गयी!

भगवान् के विरह का रस मिलन के आनन्द से कुछ कम सुख-कर नहीं है। सगुण भक्तों और निर्गुण संतों ने समानरूप से प्रभु के विरह की अनुभूति में अपनी आत्मा को उज्ज्वल किया है। विरह प्रेम की जाग्रत अवस्था का नाम है। प्रेमी से यह सहा नहीं जाता कि उसका प्रेमपात्र एक क्षण के लिये भी उससे अलग रहे। बार-बार हृदय विरह की ज्वाला में जा पड़ता है। इस ज्वाला में ही, प्रभु की स्मृति में ही उसे एक सुखद शान्ति मिलती है! विरह की इस अवस्था को भूल से 'दुःख' कहा जाता है। वह 'दुःख' कैसे,

जिसमें बार-बार हृदय चला जाय और जहाँ पहुँचकर ही जी की तपन बुझे! विरह की यह ज्वाला ही भक्तों का अमृतपान है। प्रेमी बार-बार अपनी ओर देखता है और अपने में प्रेम का अभाव अनुभव करता है। वह अनन्यता, वह सर्वात्मसमर्पण, जो भक्त को प्रभु के चरणों में पहुँचा देता है, उसको अपने भीतर न पाकर भक्त का हृदय रो उठता है—

कै बिरहिन को मीच दे, कै आपा दिखलाय।
आठ पहर का दाझना, मोपै सहा न जाय॥
हिरदे भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, कै जिन लाई सोय॥

विरह की वह ज्वाला अमृतमयी है; क्योंकि इसमें 'पिय-मिलन की आस' बराबर है। मिलन की विह्वल प्रतीक्षा में विरह की ये घड़ियाँ भी सुखकर ही हैं। 'पति' से मिलने के लिये कबीर का साधक हृदय कराह उठता है—

येहि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

इस शरीर का दीपक बनाऊँ, जीव को बत्ती करूँ और लोहू का तेल जलाऊँ, यदि 'पिय' के मुख देखने को मिले। त्रुटियों, दुर्बलताओं और अपराधों तथा विकारों से भरे अपने जीवन पर जब ध्यान जाता है, तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि अभी तो सौ-सौ जन्मों में भी 'हरि' के दर्शन दुर्लभ हैं। 'मैं मैली पिउ ऊजलो, मिलना कैसे होय' का भाव कबीर में बहुधा आया है—

आय सकौं नहिं तोहि पै, सकौं न तुज्झ बुलाय।
जियरा यों कब होयगा, बिरह तपाय-तपाय॥

'ओदी लकड़ी' की तरह कबीर का हृदय धुँधुआ रहा है और दर्शन के प्यासे नैन—

बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
माँगे दरस मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन॥

बिरह में मिलन की जो आशा है, वही प्राणों का आधार है। बार-बार पिय का स्मरण कर भक्त रो उठता है। रोने से ही हृदय कुछ हलका होता है और जी की तपन बुझती है—

कबीर हँसना दूर करु, रोने से करु चित्त।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥
हँस-हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेलैं पिउ मिलै, तो कौन सुहागिन होय॥

यह सारा शृङ्गार, सभी साज-बाज व्यर्थ गये, यदि पति से भेंट न हुई। सौन्दर्य, शृङ्गार तथा सजावट की सफलता तो तभी है, जब 'साईं' की आँखें इनपर पड़ें; जब प्रभु से मिलन हो—नहीं तो ये सभी व्यर्थ ही हैं—

चूड़ी पटकौं पलँग से, चोली लावौं आगि।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि॥

तन धारण करने की सफलता तो हरि-मिलन में ही है—यदि यह न हुआ, तो इन चूड़ियों और चोली में आग लगे! वह शृङ्गार किस काम का जो प्रभु के मिलन-सुख से वञ्चित रहे। यही है—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'!

यह बिरह ही प्रभु को मिलानेवाला है, यह बिरह ही सच्चा मिलन है। एक क्षण भी 'साईं की याद' भूलती नहीं और रोम-रोम में उसीकी छवि, उसीकी स्मृति छायी रहती है। कबीर ने बिरह-जन्य आत्मविस्मृति की उस दशा को, जिसमें साजन के सिवा कुछ रहता ही नहीं—बहुत ही सुन्दर ढंग से रखा है—

कबीर रेख सिंदूर अरु, काजल दिया न जाय।
नैनन प्रीतम मिलि रहा, दूजा कहाँ समाय॥
आठ पहर चौसठ घड़ी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तूँ बसे, नींद को ठौर न होय॥
पतिबरता तब जानिये, रतिउ न उघरे नैन।
अंतरगति सकुची रहै, बोले मधुरे बैन॥

आँखों में प्रीतम की छवि भरी हुई है, काजल की रेखा उसमें कैसे अँटे? आठों पहर, चौसठों घड़ी जब हरि के सिवा कोई रहा ही नहीं, तो फिर नींद निगोड़ी कैसे आवे? सच्ची पतिव्रता तो वह है जो एक क्षण के लिये भी संसार पर आँखें नहीं डालती। वह तो अहर्निश आँख बंद करके प्रभु के रस में डूबी रहती है।

उस अमर सनातन सत्ता के स्पर्श में आ जाने पर मानव का लौहजीवन सोना बन जाता है। इसकी हलकी झाँकी कबीर के इस पद में है—

रस गगन गुफा में अजर झरे।

बिन बाजा झनकार उठे जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै॥
बिना ताल जहँ कमल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उजियारी दरसै, जहँ तहँ हंसा नजर परै॥
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै॥
जुगन-जुगन की तृषा बुझानी करम भरम अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै॥

अन्दर और बाहर जब सब कुछ प्रभु के प्रकाश से जगमग-जगमग हो उठा, जब सर्वत्र अबाधरूप से मधुर मिलन की प्रक्रिया होने लगी, तो फिर कबीर ने डंके की चोट कहा—

हिरदे में महबूब है, हरदम का प्याला।
पीवेगा कोई जौहरी, गुरुमुख मतवाला॥
पियत पियाला प्रेम का, सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहै, जस मैगल हाथी॥
धरती तो आसन किया, तंबू असमाना।
चोला पहिरा खाक का रह पाक समाना॥

इसीको मीरा ने 'लीन्ह् बजंता ढोल' कहा है। मैंने तो डंके की चोट प्रभु को पा लिया। मीरा की यह मधुर अनुभूति श्रीगिरिधारीलाल की मधुर मूर्ति में एकाकार हो गयी है। कोई कुछ भी कहे, मीरा तो यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रही है कि उसका प्राणेश्वर निरंतर उसके प्रेम-पाश में बँधा है, हृदय के मन्दिर में खड़ा-खड़ा हँस रहा है।

अपने परम प्रियतम को एक बार भी देख लेने पर फिर 'नैहर' का मोह स्वयं मिट जाता है और एक क्षण उसके बिना रहना दूभर हो जाता है। बार-बार प्राणप्यारे के देश का स्मरण हो आता है—

नैहरवा हमकों न भावै।
साईं की नगरी परम अति सुंदर,
जहाँ कोई जाय न आवै॥
चाँद सुरज जहाँ पवन न पानी,
को संदेस पहुँचावै।
दरद यह साईं को सुनावै॥

परम प्रेम के मधुर पान के लिये यह आवश्यक है कि जगत् की इस दीख पड़नेवाली भिन्नता तथा अनेक नाम-रूप में छिपे हुए एक परमात्मज्योति से साक्षात्कार हो। खण्ड, सीमा, परिवर्तन

मृत्यु, हाहाकार और विनाश के पार 'प्रीतम की नगरी' है और इन दीख पड़नेवाली भिन्नताओं को पार करके ही वहाँ जाया जा सकता है, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता। कबीर की साधना में इस संसार के प्रति अटूट दृढ़ अजेय वैराग्य है जो उन्हें संसार में विरमने नहीं देता और उन्होंने इसीके बल पर साईं के देश पहुँचकर, साजन की अटारी पर पौढ़ते हुए कहा है—'अब हम अमर भये न मरेंगे' इस 'सुरति' को ही कबीर ने 'सहज समाधि' कहा है—

संतो सहज समाधि भली है।

जब से दया भयी सतगुरु की, सुरति न अनत चली है,
जहँ-जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा,
घर बनखंड एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥
शब्द निरन्तर मनुवा राचा, मलिन वासना त्यागी।
जागत सोवत ऊठत बैठत, ऐसी तारी लागी।
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया-कष्ट न धारूँ।
उघरे नैनन साहेब देखूँ, सुन्दर बदन निहारूँ॥
कहहिं कबीर यह उन्मनि रहनी सो परगट कहि गाई।
दुख-सुख के वह परे परम पद, सो पद है सुखदाई॥

गुरु नानक की नाम-साधना

सिक्खों के प्रमुख दस गुरु हुए हैं और इनके चलाये हुए धर्म को सिखमत, गुरुमत अथवा खालसा पंथ कहते हैं। इन गुरुओं ने यह आदेश किया कि साधक निरन्तर हरिनाम श्री वाह-गुरु का जप करता रहे, साथ ही दूसरों की सेवा में तन-मन-धन से तत्पर रहे। सिख धर्म ने गृहस्थाश्रम को ही विशेष पुष्ट किया तथा चरित्र-बल को ही मुख्य स्थान दिया।

गुरु नानक सिख गुरुओं में प्रमुख हैं और सिखमत के आचार्य हैं। इनका जन्म राइभोइ की तलवानी में वेदी कालूचंद पटवारी के घर १५ अप्रैल सन् १४६६ में हुआ था। इनका जन्म-स्थान अब 'नानकाणा साहिब' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी माता का नाम तृप्ताजी था। बचपन में ही इनकी प्रकृति बहुत शान्त एवं एकान्तप्रिय थी। खेल-तमाशे में इनका मन कभी भी नहीं लगता था। एक बार माता के बहुत आग्रह पर आप खेलने

गये तो सब बच्चों को पद्मासन लगाकर एक गोल पंक्ति में चुप-चाप बैठा लिया और कहा कि 'सत्य कर्तार' 'सत्य कर्तार' कहते रहो। बड़ी देर तक बच्चे इसी प्रकार समाधि में रहे। आरंभ में इन्हें हिंदी, संस्कृत और फारसी पढ़ाने के लिये अध्यापक रक्खे गये; परन्तु आगे चलकर तीनों के तीनों इनके ही शिष्य हो गये।

गुरु नानक सदैव हरि-चिन्तन में लगे रहते थे और घर-गृहस्थी की ओर इनका ध्यान नहीं के बराबर था। इनके पिता की बड़ी इच्छा थी कि नानक किसी उद्योग-धंधे में लगें और एक बार इन्हें बहुत-सा रुपया देकर कहा कि बाहर जाकर कुछ सस्ती वस्तुएँ रोजगार के लिये खरीद लाओ। रास्ते में इन्हें कुछ संत मिल गये जिनकी सेवा में इन्होंने सारे रुपये लगा दिये, और लौटकर पिता से कह दिया कि 'सच्चा सौदा' किया है। पिता ने लड़के की इस प्रमादभरी करतूत पर बहुत पीटा। इनकी बहिन श्रीनानकीजी इन्हें बहुत प्यार करती थीं और इन्हें ईश्वर के समान समझती थीं। वे इन्हें अपने घर सुलतानपुर ले आयीं। यहाँ लोगों के बहुत आग्रह पर आपने दौलत खाँ लोदी के मोदीखाने की कार सँभाल ली।

संवत् १५४४ में २४ जेठ को आपका विवाह श्री सुलक्षणा देवी से हुआ जिससे आपको दो पुत्र हुए—श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द।

श्री बाबा कृष्णानन्दजी उदासीन ने श्री गुरु नानक देवजी की जीवनी बड़े विस्तार से लिखी है। इसका नाम "जनम-साखी" अथवा 'नानक-सत्य-प्रकाश' है। इसमें गुरु नानक की समस्त यात्राओं एवं विवाह आदि का बहुत विस्तार से वर्णन है। उन्होंने लिखा है कि विवाह के समय गुरु नानक ने ये वचन कहे थे—

राम पहिलड़ि हरि हरि नाम ध्याइयै।
मेरे तन मन श्रीरंग अगर चंदन घसि लाइयै॥
अगर चंदन घसिलाइ कपूर कुंगु ठोइयै।
राम नाम उचरंत रसना सदा हरिरस गोइयै॥
घर लगाइये अगर चंदन कुंगु प्रेम प्रभु का पाइयै।
कुरबान कीता गुरु विटहुँ जिसे यह साज रचाइयै॥
राम दूजड़े मंगल फुली माँग भराइयै।
फुली त मांग भराइयै करता पुरुष ब्याहन आइया॥
सुर नर गण गन्धर्व सबही कौतुक देख विसमाइया।
कुरबान कीता गुरु विटहुँ जिस यह काज रचाइया।
बिनवंत नानक सुनहु संतहु सभ सफल्यो काज सुहाइया।
उत्साह होया सोभ सेती मंगल काल शुहाइया॥

इसी प्रकार "नानक सूर्योदय जन्म साखी" एक महान् ग्रन्थ लगभग छः सौ पृष्ठों का है जिसमें श्रीनानक देव की जीवनी पद्य में वर्णित है। इसके आरंभ में स्कन्द पुराण के भविष्यत् खण्ड के कुछ श्लोक गुरु नानक के संबंध में उद्धृत हैं—

एवं याधर्म प्राचुर्यं भविष्यन्ति यदा कलौ
तदा वै लोकरक्षार्थं म्लेक्षानां नाशहेतवे।
पश्चिमे तु शुभे देशे वेदी वंशे च नानकः
नाम्ना च भुवि राजर्षि भक्त सात्विक मानसः॥
भविष्यति कलौ स्कन्द तत्वविद्कलया हरेः
स श्रीमान् राजधर्मं तानुपदिश्य पुनः पुनः।
म्लेक्षान्हनिष्यति स्कन्द धर्मंतत्वोपदेश कृत्
तेनोपदिष्टं मार्गं वै गृह्णिष्यन्ति भूमिपाः॥
ते वै राज्यं करिष्यन्ति तस्य शिक्षानुसारतः।
धर्मेण राजवृद्धिश्च कलौ तेषां भविष्यति॥

गुरु नानक के जीवन का यह सुव्यवस्थित सुविस्तृत काव्य-मय अनुशीलन साहित्य के विद्यार्थियों के लिये बड़े काम का है। यह गुरुमुखी भाषा से भाषान्तर होकर हिन्दी में आया है और इसके अन्त में भाषान्तरकार लिखते हैं—

"हस्बुल हुक्म खुदावन्द न्यामत श्रीमान श्री महाराजा विजयचन्द साहिब बहादुर वालिये मुल्क कलहूर के कमतरीन बन्दह मुनशी निहालसिंह मुदर्रिस कुम्हारवीं ने गुरुमुखी ग्रंथ से नागरी अक्षरों में अज माह मघर ता माह असौज ११ ग्यारह माह के अर्से में उल्था किया और सम्वत १९५४ आसौज गते २० सोमवार के दिन लिखकर सम्पूर्ण किया।"

नानकदेव यद्यपि मोदीखाने में काम करते थे, फिर भी उनका चित्त सदैव परमात्मा में ही लगा रहता था और आप प्रायः साधु-संतों को मुफ्त ही सामान बाँट दिया करते थे। एक बार आटा तौलते समय गिनते-गिनते जब तेरह पर आये, तो गिनती भूल गये और 'तेरा तेरा' कहते हुए सारा आटा दे डाले। मोदी-खाने का काम छोड़कर अंतःप्रेरणा से ये अब देशाटन को निकले। पहली यात्रा दिल्ली, हरिद्वार, काशी, गया तथा जगन्नाथ पुरी की हुई। दूसरी यात्रा में सेतुबंध रामेश्वर, सिंहलद्वीप आदि स्थानों में परिभ्रमण किया। तीसरी यात्रा में गढ़वाल, हेमकूट, गोरखपुर, सिकम, भूटान, तिब्बत आदि स्थानों में सतसंग दान करते रहे और चौथी यात्रा में पश्चिम की ओर बिलोचिस्तान होते हुए मक्का शरीफ पहुँचे और फिर रूम, बगदाद, ईरान आदि की सैर करते हुए कंधार, काबुल आदि में सत्यनाम का प्रचार एवं प्रसार किया।

मक्का शरीफ पहुँचकर वे काबे की ओर पैर करके सो गये। जब काजी क्रुद्ध हुआ, तो आपने कहा—काजी जी! जिधर अल्लाह

का घर न हो मेरे पैर उधर ही कर दीजिये। कहते हैं काजी ने नानक के पैर जिधर फेरे, काबा भी उधर ही फिरता गया। पूरे पच्चीस वर्ष भ्रमण करने के बाद आप कर्तारपुर में रहने लगे और सत्संग के साथ-साथ अन्न का लंगर (सदाव्रत) भी सबके लिये जारी किया। यहीं संवत् १५७६ में इनके माता-पिता का देहावसान हुआ।

सत्तर वर्ष की आयु में आपने २२ सितम्बर १५३६ में परलोक-गमन किया। अन्तिम संस्कार के लिये हिन्दू-मुसलमान, सिख आपस में झगड़ने लगे; क्योंकि वे सबके थे। अन्त में जब उनके कफन का वस्त्र हटाया गया, तो वहाँ शव था ही नहीं। अतएव, आधा वस्त्र लेकर मुसलमानों ने कब्र बनायी और आधा वस्त्र हिन्दू-सिखों ने लेकर संस्कार किया।

आपके उपदेशों और वाणियों को सिखों के पञ्चम गुरु अर्जुनदेव ने संकलित किया—जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणीय ओंकार, सिद्धगोष्ठी आदि आपकी प्रसिद्ध वाणियाँ हैं। 'संत' का परिचय आपने यों दिया है:—

जिना सासि गिरासि न बिसरै, हरि नामाँ मनि मंत।
धन्नसि सेई नानका, पूरन सोई संत॥

× × × ×

आठ पहर निकटि करि जानै। प्रभु का कीआ मीठा मानै॥
एकु नामु संतन आधारू। होइ रहे सभ की पग छारू॥
संत रहत सुनहु मेरे भाई। उआकी महिमा कथनु न जाई॥
वरतणि जाकै केवल नाम। अनँद रूप कीरतनु बिसराम॥
मित्र सत्रु जाकै एक समानै। प्रभु बिन अपने अवरु न जानै॥

कोटि-कोटि अघ काटन हारा । दुख दुरिकरन जीअका दातारा ॥
सूरबीर बचन के बली । कवला बपुरी संती छली ॥
ताका संगु बाँछहि सुरदेव । अमोघ दरस सफल जाकी सेव ॥
करजोड़ि नानकु करे अरदासि । मोहि संत-टहल दीजै गुणतासि ॥

संत की रहनी में अन्तर्मुखता, दीनता, सेवा, बंदगी ये ही चार बातें मुख्य रूप से नानक ने स्वीकार की हैं—

अंतरि बसै, न बाहरि जाइ ।
अंमृतु छोड़ि, काहे बिषु खाइ ॥
ऐसा गियानु जपहु मन मेरे ।
होवहु चाकर साँचे केरे ॥
गियानु, धिआनु सभु कोई रवै ।
बाँधनि, बाँधिया सभु जगु भवै ॥
सेवा करे सु चाकर होइ ।
जलि थलि महि अलि रवि रहिआ सोइ ॥
हम नहिं चंगे, बुरा नहिं कोइ ।
प्रणवति नानकु तारे सोइ ॥

'जपुजी' सिखों की गीता है। उसमें गुरु नानकदेव ने बहुत विस्तार के साथ नाम की महिमा गायी है। उनका कथन है कि नाम वह साबुन है, जो लाख-लाख जन्मों के पाप को धो डालता है। नाम वह महौषधि है, जो सब लोगों पर रामबाण-सा असर करता है। नानक बार-बार कहते हैं कि जिस प्रकार हाथ-पैर में कीचड़ लग जाने से हम पानी से धो डालते हैं, उसी प्रकार यदि हृदय में पाप का कीचड़ लग जाय, तो वह एक हरि के नाम से धोया जा सकता है। यह नाम ही आवागमन को बन्द कर देता है—परम प्रभु से मिला देता है। नाम की साधना में जाति, आश्रम,

ब्राह्मण, चांडाल, पुरुष-स्त्री आदि का भेद या प्रतिबंध नहीं है। सिख धर्म में नाम की बड़ी महिमा है। वे कहते हैं कि नाम के बिना सारा साधन उसी प्रकार है जैसे मुर्दे का सिंगार। 'सरब बियापक' और 'सरब प्रीतपालक' के दर्शन एकमात्र नाम की साधना से ही हो सकते हैं। उसे पाने के लिये जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं, न भभूत रमाने की ही आवश्यकता है—घर में ही रहकर, उसके नाम का स्मरण करने से 'वह' मिलता है। नानक का 'काहे रे बन खोजन जाई ?' इस सम्बन्ध में स्मरण रखने योग्य है। नानक देव ने गाया है—

रे मन राम सों कर प्रीत

श्रवण गोविन्द गुण सुनो अरु गाऊ रसना गीत।
कर साधु संगत सुमिर माधो होय पतित पुनीत॥
काल व्याल ज्यों प्रस्यो डोले मुख पसारे मीत।
कहे नानक राम भजले जात अवसर बीत॥

यह 'नाम' गुरुमुख से ही प्राप्त होना चाहिये तभी उसका विद्युत् प्रभाव देखने में आता है। तीसरे गुरु अमरदासजी ने इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है—

राम राम सभु कोई कहै, कहिये रामु न होइ।
गुर प्रसादी रामु मनि वसै, ता फल पावै कोइ॥
अंतरि गोविन्द जिसु लागै प्रीति।
हरि तिसु कदे न वीसरे, हरि हरि करहि सदा मन चीति॥

नाम की साधना से ही नाम की 'सिद्धी' होती है—साधन रूप और सिद्धिरूप नाम में महान् अन्तर है। सिद्धिरूप नाम में हमारा मन, हमारी वाणी और हमारे कर्म एकमात्र उस 'नाम' का ही उच्चारण करते हैं—रोम-रोम से हरि-हरि का उच्चारण स्वतः स्फुरित होता रहता है। इसके लिये गुरुनानक ने साधक के

सर्वात्म समर्पण, निःशेष आत्म-समर्पण को अनिवार्य माना है और वे कहते हैं कि जिस प्रकार 'तिरिया' अपने 'पुरुष' का स्मरण करती है, उसी प्रकार साधक अपने परम प्रियतम प्रभु का स्मरण करे। 'नाम-सिमरन', 'हरी-कीरतन' और 'प्रेम-भगति' यही हैं नानक की साधना का प्राण। नानक ने अपने दिवानेपन के संबंध में गाया है—

भया दीवाणा साहु का नानक बौराना।
हउँ हरि बिनु अवर न जाना॥ रहाव॥
तब दीवाणा जाणिये जो भय दीवाणा होइ।
एकी साहिब बाहरी दूजा अवर न जाने कोइ।
तब दीवाणा जाणिये जो साहिब धरे पियार।
मंदा जाणे आपको और भला संसार॥

पाँच बार जो नमाज पढ़ी जाती है, उसे पाँच शुभ कर्मों के रूप में देखने की आज्ञा आपने दी है—

१. उस सत करतार का, जिसने सबको बनाया है—स्मरण करे और पुनः पुनः उसीका ख्याल धरे।

२. धर्माधर्म का विचार रक्खे कि अपने से किसी को दुःख न पहुँचने पावे।

३. सदा उस मालिक की नेकी को याद रक्खे।

४. अपने चित्त की वृत्ति को रोके कि वह बुरी वासनाओं में न फँसे।

५. सदा-सर्वत्र वाणी से, मन से, प्राण से, साँस से उसी खालिक करतार के नाम की रटन लगाये रहे।

अपने कुटुम्ब का परिचय नानक ने यों दिया है—

खिमा हमारी माता कहिये संतोष हमारा पिता।
सत हमारा चाचा कहिए जिन सँग मनुआ जीता॥
भाव भाई संग हमारे प्रेमजत सो साँचा।
श्री हमारी धीरज बनिये से संग हम राँचा॥
शांति हमारी संग-सहेली सत हमारी चेली।
ये ही कुटुँब हमारी कहिये साँस-साँस सँग खेली॥
एक उंकार हमारा खाविंद जिन हम बनत बनाए।
उसको त्याग अवर को लागे नानक सो दुख पाए॥

इसी उंकार का अमृत रस पीकर नानक मस्त हैं—

अवर स्वाद सब फिके लागे जब सच नाम सुख दीया।
कह नानक सो खरा स्वादी एक उँकार रस पीया॥

जो भी नाम का प्रेमी है, वह नानक का साथी है—

हमरे मत महँ कोऊ आवै।
सीताराम गाइ सुख पावै॥

बाहरी वेश से भगवान नहीं रीझते, होना चाहिये अन्तर में प्रभु की प्रीति और विषयों के प्रति विरक्ति—

जटा जनेऊ कंठि धर, छापा तिलक लगाय।
लक्षण ना वैराग के, जौं लौं भोग सुहाय॥

इसलिये—

सतगुरु भेंटे सो सुख पाए।
हरि का नाम मन् बसाए॥
नानक नदरि करे सो पाए।
आस अंदेस ते नि: केवल हउँ मैं शब्द जलाए॥

सारा बाह्य आडम्बर छोड़कर एकमात्र नाम की शरण लेने के लिये ही नानक ने बारम्बार चिताया है—

गऊ बिरामण को कर लम्बहु, गोबरि तरणु न जाई।
धोती टीका तै जपमाली धानु बलेच्छाँ खाई॥
अंतरि पूजा, पढ़हिं कतेबा, संजमु तुरका भाई।
छोड़िके पाखण्डा, नाम लइए जाहि तरंदा॥

उस परम पुरुष सत करतार की आरती कितनी भव्य है !—

गगन में थाल रवि चंद दीपक तार का मंडल जनक मोती।
धूप मलआन लो पवण चँवरो करे सगल बनराइ फुलत जोती॥
कैसे आरती होइ भव खंडना तेरी आरती अनहृदा शब्द बाजत भेरी।
सहस तव नैन नन नैन हैं तोहि को सहस मूरति नना एक तोही।
सहस पद बिमल नन एक पद गंध बिनु सहस तव गंध इव
चलत मोही॥

आकाश में चंद्रमा और सूर्य-रूप थाल है और उसमें तारा-गण दीपक जगमगा रहा है। मलयागिरि की सुगंधि लिये समीरण चँवर कर रहा है। समस्त बनराजि इस आरती के उल्लास में फूल उठी है। अनहद की भेरी बज रही है। इस विराट् आरती में चर-अचर अपने आनन्दोल्लास के द्वारा योगदान कर रहे हैं।

सब महँ ज्योति ज्योति है सोइ।
तिसके चानणि सब महिं चानणि होइ॥

हरि चरण कमल मकरन्द लोभित मनो अनदिनो मोहिं आन्हि प्यासा।
कृपा जल देहि नानक को होइ जातें तेरे नाइ बासा॥

जहाँ भी, जो कुछ चाँदनी है, वह उसी परम प्रभु के रूप की परिछाहीं है और उसके चरणों में एक लोभी भौंरे की तरह नानक मकरन्द पान कर रहे हैं।

दादू का विरह

दादू का जन्म चैत्र सुदी अष्टमी गुरुवार विक्रम संवत १६०१ तदनुसार सन १५४४ को हुआ था। इस प्रकार, कबीर के ब्रह्म-लीन होने के लगभग छब्बीस वर्ष बाद इनका आविर्भाव हुआ। दादू-पंथी यह मानते हैं कि दादू का जन्म अहमदाबाद में लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण के घर हुआ। उनका कहना यह है कि लोदीराम के कोई सन्तान नहीं थी। एक दिन भगवान् की दया से उन्होंने साबरमती नदी में बहता हुआ एक संदूक देखा। संदूक निकालकर खोला, तो देखते क्या हैं कि उसमें एक परम ज्योतिर्मय छोटा-सा बालक हँसता हुआ लेट रहा है। उन्होंने उस बालक को घर पर लाकर अपनी स्त्री को दिया। भगवान् की माया से बालक को देखते ही माता के स्तनों में दूध उमड़ आया। इस प्रकार उस ब्राह्मण-परिवार में बड़े लाड़-प्यार से दादू का लालन-पालन हुआ। ग्यारह वर्ष की अवस्था में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्हें एक वृद्ध

महात्मा के रूप में दर्शन देकर तत्त्वज्ञान का उपदेश किया। कबीर की उत्पत्ति के संबंध में भी प्रायः ऐसी ही कथा प्रचलित है। काशी के लहर-तारा तालाब में एक कमल के पुष्प पर शिशु कबीर लेटे-लेटे हँस रहे थे कि नीरू जुलाहे ने उन्हें देखा और वह उन्हें अपने घर लाकर पुत्र के समान पाल-पोसकर बड़ा किया।

दादू की 'वाणी' पढ़ने से तथा अन्य भी कई साधनों से यह सिद्ध होता है कि दादू जाति के मुसलमान धुनिया थे। पंडित सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि दादू मोची थे और काशी के पास जौनपुर के रहनेवाले थे। उनका कथन यह भी है कि दादू मोट सीकर अपनी जीविका चलाते थे। अपने कथन के समर्थन में उन्होंने यह दोहा उद्धृत किया है—

साचा समरथ गुरु मिला, तिन तत दिया बताय।
दादू मोट महाबली, सब घृत मथि करि खाय॥

दादू जाति के धुनिया थे या ब्राह्मण, यह प्रश्न बहुत महत्त्व का नहीं है। हाँ, दादू-पंथियों का यह आग्रह भी कि दादू ब्राह्मण थे, निस्सार है। इनकी वाणी से स्पष्ट है कि दादू मुसलमान थे और कई स्थलों पर मुहम्मद और हदीस की चर्चा भी आयी है। दादू अकबर के समकालीन थे और दोनों की भेंट एकबार फतेहपुर सीकरी में हुई थी जिसमें अकबर ने दादू से पूछा था कि खुदा की जाति, अंग, वजूद और रंग क्या है जिसका उत्तर दादू ने यों दिया था—

इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग॥

उन्नीस वर्ष की अवस्था में दादू घर से निकल पड़े और घूमते-घूमते जयपुर राज्यान्तर्गत साँभर गाँव में जा पहुँचे। यहाँ लोक-

दृष्टि से बचने के लिये वे अपना जीवन-निर्वाह रूई धुनकर करते थे। बारह वर्ष तक घोर तपश्चर्या एवं योग-साधन के द्वारा उन्होंने पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। जयपुर, मारवाड़, बीकानेर आदि कई स्थानों में विचरते रहे। मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, छापा-तिलक आदि को वे सच्चे साधक के लिये निष्प्रयोजन बतलाते थे और अन्तर्मुख होकर अन्तर्ज्योति के ध्यान, अभ्यास, स्मरण एवं सहज भाव से ईश्वर में लय रहना ही सर्वोपरि साधन मानते थे। वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, शान्ति, अपरिग्रह, क्षमा, दया, त्याग, तितिक्षा, वैराग्य, समता, निरभिमानता एवं आर्जव आदि सात्विक गुणों की प्राप्ति के लिये साधन करनेवाले को ही 'साधु' मानते थे।

दादू ने अपने मत को कभी सम्प्रदाय विशिष्ट का रूप नहीं दिया—परन्तु, जैसा कि प्रायः होता है, इनके शिष्यों ने 'पंथ' चलाया ही। इनके जीवन-काल में ही जो सत्संगी आया करते थे, वे प्रायः अपने को ब्रह्म सम्प्रदाय का सदस्य कहने लगे थे। जन-गोपालदास इनके प्रमुख शिष्य थे। उन्होंने लिखा है कि दादू को हिन्दू या इस्लाम धर्म का कोई भी आग्रह नहीं था, न अपने को षट्दर्शन के भीतर ही बाँधने की प्रवृत्ति थी। इनके सत्संग-स्थान का नाम 'अलख दरीबा' था। शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। जनगोपालदास और सुन्दरदास, जग-जीवनदास, चेतदास, गरीबदास, माधोदास, प्रयागदास, बनवारी-दास, शङ्करदास, मोहनदास, मरकोनदास, जगन्नाथ, हरिदास और निश्चलदास ये प्रमुख हिन्दू शिष्य थे और मुसलमान शिष्यों में—काजी कदम, शेख फरीद, काजी मुहम्मद, शेख बहावद (दरवेश), बखना, रज्जब आदि प्रमुख थे।

मध्व सम्प्रदाय अपना 'ब्रह्म सम्प्रदाय' मानता है; इसलिये इससे अपना पृथक् परिचय देने के लिये दादू-पंथियों ने अपने

सम्प्रदाय का नाम 'परब्रह्म सम्प्रदाय' रखा। इस सम्प्रदाय में प्रमुख १५२ शिष्य हुए जिनमें १०० शिष्य तो विरक्त हो गये और इन्होंने न मठ स्थापित किये, न शिष्य ही बनाये। शेष बावन शिष्यों ने मठ स्थापित किये, शिष्य बनाये। इसीलिये ये थाँमाधारी महंत कहलाये। दादू विवाहित थे, उनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। दादू का परमपद प्रयाण नारायण नामक कस्बे में संवत् १६६० में हुआ। यह स्थान जयपुर से बीस कोस पर है। यह दादू-पंथियों का प्रधान अखाड़ा है और इनके प्रधान महंत भी यहीं रहते हैं। दादूजी का सफेद पत्थर का दादू-द्वारा भी यहाँ बना हुआ है। दादू-पंथी प्रायः भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में मिलते हैं। इनकी 'नागा जमात' जयपुर में बड़ी भारी संख्या में है। अलवर, मारवाड़, मेवाड़, बीकानेर आदि राज्यों में दादू-पंथी बहुत अधिक संख्या में हैं। गुजरात और पंजाब में भी इनकी संख्या कम नहीं है।

दादू-पंथ में दो प्रकार के साधु पाये जाते हैं—एक भेषधारी विरक्त जो गेरुए कपड़ों में रहते हैं और पठन-पाठन तथा भजन में अपना पूरा समय लगाते हैं, दूसरे नागा हैं जो सफेद सादे कपड़ों में रहते हैं और सभी प्रकार के लोक-व्यवहार का कार्य करते हैं। इन्हीं नागों की फौज जयपुर में है। अब, दोनों ही प्रकार के साधु विवाह नहीं करते और गृहस्थों के लड़कों को चेला मूँड़-कर अपना वंश और पंथ चलाते हैं। कबीर-पंथियों की तरह ये न तिलक लगाते हैं, न कंठी पहनते हैं। हाँ, हाथ में 'सुमिरनी' रखते हैं। ये लोग सिर पर टोपा या मुरैठा पहिनते हैं और परस्पर मिलते समय 'सत्तराम' कहते हैं। पहले तो मुर्दे को विमान पर रखकर जंगल में छोड़ आते थे; परन्तु अब ये लोग चिता लगाकर जला देते हैं।

परमात्मा की महिमा और उनके सच्चिदानन्द-स्वरूप का

ध्यान, निर्गुण आराधना, अजपा जाप, परम रूप का ध्यान, धारणा और समाधि, अनहद नाद की ध्वनि सुनना और तल्लीन होना, अमृत-बिन्दु का पान और परमानन्द की प्रीति और अन्त में परमेश्वर से अरस-परस और ब्रह्म-साक्षात्कार यही है दादू-संप्रदाय की प्रमुख साधन-प्रणाली। दादू विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे; परन्तु उनकी साखियों और पदों में अनेक भाषाओं की खिचड़ी मिलती है—इसका कारण यह है कि इन्होंने पर्यटन खूब किया था तथा बहुश्रुत भी थे। ठेठ फारसी में भी इनकी कई साखियाँ हैं—गुजराती और मारवाड़ी के शब्दों की तो भरमार ही है। दादू ने अपनी वाणी अपने हाथों नहीं लिखी, उनका एक शिष्य जगन्नाथ प्रायः उनके साथ-साथ रहता था और इनकी वाणियाँ लिखता जाता था।

दादू की वाणियों की एक विलक्षण विशेषता यह है कि जहाँ कहीं भी नया प्रसंग चला है, किसी नवीन 'अंग' की चर्चा शुरू हुई है, उन्होंने वन्दना की है—और वह वंदना सर्वत्र एक समान एक-रूप है। वह यों है—

> नमो नमो निरंजनं, नमस्कार गुरु देवतः।
> वंदनं सर्व साधवा, प्रणामं पारंगतः॥

अपने गुरुदेव के संबंध में दादू ने लिखा है—

> (दादू) सतगुरु सूँ सहजैं मिल्या, लीया कंठ लगाइ।
> दाया भई दयाल की तब दीपक दिया जगाइ॥

स्वयं श्रीगुरुदेव ने कृपा करके मुझे दर्शन दिया और हृदय से लगा लिया। उस दयालु की कृपा हुई और परमज्ञान का दीपक बल उठा। उसके स्पर्श-मात्र से अन्तर की आँखें खुल गयीं, मूक वाचाल हो गया; वाणी फूट पड़ी—

दादू सतगुरु अँजन बाहि करि, नैन पटल सब खोले ।
बहरे कानौं सुनने लागे, गूँगे मुख सूँ बोले ॥

मृत्यु के हाथ से छुड़ानेवाले श्री गुरुदेव ही हैं—

दादू काढे काल मुख, स्रवनहुँ सब्द सुनाइ ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, मिरतक लिये जिलाइ ॥

गुरु-मुख से 'सब्द' सुनते ही सहज रूप से चित्त की धारा प्रीतम की ओर मुड़ गयी—

साचा सहजैं ले मिलै, सब्द गुरु का ग्यान ।
दादू हमकूँ ले चला, जहँ प्रीतम अस्थान ॥

इसी कारण मन, वचन और क्रिया में एक दिव्य पवित्रता स्वयं आ गयी—

निर्मल गुरु का ग्यान गहि, निर्मल भगति विचार ।
निर्मल पाया प्रेमरस, छूटे सकल विकार ॥

निर्मल तन मन आतमा, निर्मल मनसा सार ।
निर्मल प्राणी पंच करि, दादू लंघे पार ॥

प्राणी पंच का अर्थ है, पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान ।

गुरुदेव ने कृपाकर मुझमें ही छिपे हुए मेरे स्वामी के पर्दे हटाकर दिखला दिया—'मुझ ही में मेरा धणी, पड़दा खोलि दिखाइ'। और फिर अपने ही हाथों से प्रेमरस का प्याला भर भरकर मुझे पिलाया—'भरि-भरि प्याला प्रेम रस अपणे हाथ पिलाइ'। प्रेम और आनंद का जो अपार पारावार उमड़ा हुआ चला आ रहा है, यह गुरु की कृपा का ही फल है, नहीं तो—

सरवर भरिया दह दिसा, पंखी प्यासा जाइ ।
दादू गुर परसाद बिन, क्यों जल पीवै आइ ॥

दादू ने ऐसे सद्गुरु का लक्षण बतलाया है—

सतगुरु ऐसा कीजिये, राम रस्स माता ।
पार उतारै पलक में, दरसन का दाता ॥

अर्थात्, जो रामरस में माता हो, एक क्षण में 'पार' उतार दे और प्रभु का दर्शन करा सके वही 'सतगुरु' है। सतगुरु का स्थान सीस पर है और प्रभु का स्थान हृदय में—इसे मीरा ने भी कहा है—'संत सदा सीस पर राम हृदय होई'। संत दादू ने बहुत स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त का विन्यास किया है—

सनमुख सतगुर साध सूँ, साईं सूँ राता ।
दादू प्याला प्रेम का, महा रसिस माता ॥

साईं सूँ साचा रहै, सतगुर सूँ सूरा ।
साधू सूँ सनमुख रहै, सो दादू पूरा ॥

दादू ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में डंके की चोट कहा है कि लाख चन्द्रमा और करोड़ों सूरज उग जायँ—परन्तु बिना गुरु के अंधकार जा नहीं सकता—

इक लख चंदा आणि घर, सूरज कोटि मिलाइ ।
दादू गुरु गोविन्द बिन, तौ भी तिमिर न जाइ ॥

सतगुरु ने कृपा कर अपनाया और अंतर में 'लौ' लगा दी। उस 'लौ' का स्वरूप 'निरंजन नाँव' है जो युग-युग से हृदय-गुफा में छिपा हुआ था, जिसे गुरु ने अपने हाथों से उद्घाटित कर दिया; और, फिर अब क्या है, वह 'निरंजन नाँव' सहज रूप से प्राणों के साथ क्रीड़ा कर रहा है—

मन-माला तहँ फेरिये, जहँ आपै एक अनंत।
सहजैं सो सतगुर मिल्या, जुग-जुग फाग बसंत॥
सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हाथों निस-दिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥

हृदय-मंदिर के भीतर जो सेवा-बंदगी चल रही है, वह गुरु-कृपा का ही प्रसाद है—जो सहज रूप में अनायास ही गुरु कृपा से प्राप्त हुई है—

यहु मसीत यहु देहरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा-बंदगी, बाहरि काहे जाइ॥

मसीत और देहरा का अर्थ है मस्जिद और देवालय। अन्तर में जो मस्जिद और मंदिर है–जहाँ आठ पहर चौंसठ घड़ी पूजा चलती है गुरुकृपा से ही उसके पट खुलते हैं। क्योंकि—

मंझे चेला मंझि गुर, मंझे ही उपदेस।
बाहरि ढूँढे बावरे, जटा बँधाये केस॥

गुरु भी अन्तर में ही है, शिष्य भी अन्तर में ही है और उपदेश भी भीतर ही भीतर हो रहा है। वहाँ सारा कार्य आँखों के इशारे से होता है—बोलने की कोई आवश्यकता नहीं—

गुर पहली मन सौं कहै, पीछे नैन की सैन।
दादू सिष समझै नहीं, कहि समझावै बैन॥

भृंगी कीट न्याय के अनुसार गुरु के शब्द-स्पर्श से शिष्य की आत्मा तद्रूप हो जाती है—

दादू सुधि बुधि आतमा, सतगुर परसै आइ।
दादू भृंगी कीट ज्यौं, देखत ही ह्वै जाइ॥

गुरु-कृपा से जब अन्तर के पट खुले, तो प्रभु पर सारी साधना का भरोसा छोड़कर साधक निश्चिन्त हो गया—

जिन ही कीया होइ सब, सन्मुख सिरजनहार।
दादू करि करि यो मरे, सिप साखा सिर भार॥

अन्त में उस 'निरंजन नाँव' को —जो गुरु-मुख से प्राप्त होकर हृदयकमल के कोष में क्रीड़ा कर रहा है—दादू ने बड़े उल्लास से स्मरण किया है—

नाँव रे, नाँव रे, सकल सिरोमनि नाँव रे।
मैं बलिहारी नाँव रे॥
नूर दिखावै, तेज मिलावै, जोति जगावै नाँव रे।
सब सुख दाता, अमृतदाता, दादू माता नाँव रे।
× × ×
अविचल मंत्र अमर मंत्र अखय मंत्र
अभय मंत्र राम मंत्र निज सार।
सजीवन मंत्र, सवीरज मंत्र, सुंदर मंत्र।
सिरोमणि मंत्र, निरमल मंत्र, निराकार॥
अलख मंत्र, अकल मंत्र, अगाध मंत्र, अपार मंत्र, अनंत मंत्र राया।
नूर मंत्र, तेज मंत्र, जोति मंत्र, प्रकास मंत्र, परम मंत्र पाया॥
उपदेस दष्या दादू गुर पाया।

'दष्या' का अर्थ है दीक्षा।

गुरुमुख से प्राप्त 'राम' नाम के 'सुमिरन' के संबंध में दादू ने बड़े ही ओज-भरे, आनन्द-भरे शब्दों में गाया है—

एकै अच्छर पीवका, सोई सतकरि जाणि।
राम नाम सतगुर कह्या, दादू सो परवाणि॥

उस 'सुमिरन' का रूप क्या है, दादू के ही शब्दों में सुनिये—

दादू नीका नाँव है, हरि हिरदै न विसारि।
मूरति मन माहैं बसै, साँसै साँस सँभारि॥

एक राम के नाँव बिन, जिव की जरनि न जाइ।
दादू केते पचि मुए, करि-करि बहुत उपाइ॥

यह 'नामस्मरण' जब तक नियम-पालन के लिये होता है तब तक तो यह हठयोग ही के समान है। नाम का स्मरण दर्द के साथ प्रीतिपूर्वक करने से ही उसका चमत्कार सामने आता है—

नाँउ सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुन गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौ लाइ॥

नाँव लिया तब जाणिये, जे तन मन रहै समाइ।
आदि अंत मध एक रस, कबहूँ भूलि न जाइ॥

नाँव न आवै तब दुखी, आवै सुख संतोष॥
दादू सेवक राम का, दूजा हरख न सोक॥

इस 'नाँव' को मथने से ही अन्तर में 'रस' उमड़ता है और पिय का 'परिचय' होता है—

रंग भरि खेलौं पिउ सौं, तहँ कबहूँ न होय बियोग।
आदि पुरुस अंतरि मिल्या, कुछ पूरबले संयोग॥

सब सेजौं साईं बसै, लोग बतावैं दूरि।
निरंतर पिउ पाइया, तीन लोक भरपूरि॥

नाम के सहारे ही साधक भँवर कमल को खोलकर आनन्द-सरोवर में किल्लोल करने लगता है और उसका रोम-रोम उस रस में सराबोर हो जाता है—

भँवर कँवल रस बेधिया, सुख सरवर रस पीव।
तहँ हंसा मोती चुणै, पिव देखे सुख जीव॥

भँवर कँवल रस बेधिया, गहे चरण कर हेत।
पिव जी परसत ही भया, रोम-रोम सब सेत॥

अपने अन्तर में ही प्रीतम के दरस-परस का आनन्द पाकर छके हुए दादू ने उस बेहोशी में गाया है—

> सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर।
> दादू देखै एक कौं, दूजा नाहीं और॥
> नैनहुँ आगें देखिये, आतम अंतर सोइ।
> तेजपुंज सब भरि रह्या, झिलिमिलि झिलिमिलि होइ॥

'परचा को अंग' में ही दादू ने सूफी साधना की चार मंजिलों का इशारा किया है—वे चार मंजिलें हैं—शरीअत अर्थात् कर्म-काण्ड, तरीक़त अर्थात् उपासनाकाण्ड, हक़ीकत अर्थात् ज्ञानकाण्ड और मारिफत अर्थात् विज्ञान। इन चार मंजिलों का वर्णन जिन साखियों में है, वे विशुद्ध फारसी में हैं। हक़ीकत का बयान करते हुए दादू लिखते हैं—

> थके नूर खूबे खूबाँ दीदनी हैराँ
> अजब चीज खुर्दनी प्याले मस्ताँ॥

अर्थात् हकीकतवालों का प्रियतम वह प्रभु है जो खूबों में खूब और तेज का ऐसा पुञ्ज है कि जिसको देखकर आँखें झप जाती हैं और जो प्रेम के नशे में चूर प्रेमी मस्तों के प्याले की अचरज-भरी शराब है।

परिचय के बाद जब 'साक्षात्कार' हुआ, तो प्राणों में एक और ही नशा छा गया; क्योंकि उसके 'स्पर्श' से प्राण बेसुध हैं—

> बिगसि-बिगसि दरसन करै, पुलकि पुलकि रस पान।
> मगन गलित माता रहै, अरस-परस मिलि प्रान॥
>
> निरखि-निरखि निज नाँव ले, निरखि-निरखि रस पीव।
> निरखि-निरखि पिव कौं मिले, निरखि-निरखि सुख जीव॥

जिस प्रकार पानी में नमक घुल जाता है उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा का विलय हो गया—

सुरति रूप सरीर का, पिव के परसैं होइ ।
दादू तन मन एक रस, सुमिरन कहिये सोइ ॥
पर आतम सौं आतमा, ज्यौं पानी में लूँण ।
दादू तन-मन एक रस, तब दूजा कहिये कूँण ॥

फिर बाहर का सारा खटराग मिट जाता है—अनायास ही अन्तर की आराधना जग पड़ती है—और

अंतर गति हरि-हरि करै, तब मुख की हाजत नाहिं ।
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मन ही माहिं ॥
अलख नाँव अंतरि कहै, सब घटि हरि-हरि होइ ।
दादू पाणी लूण ज्यूँ, नाँव कहीजै सोइ ॥
सबद अनाहद हम सुन्या, नख सिख सकल सरीर ।
सब घटि हरि-हरि होत है, सहजैं ही मन थीर ॥

दादू पढ़े-लिखे नहीं थे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है; परन्तु उनके कई पदों में उपनिषदों की बातें ज्यों की त्यों आ गयी हैं। इसका एकमात्र कारण उनका आत्मज्ञान का अनुभव ही है। एक स्थान पर उन्होंने विश्वव्यापक निरंजन प्रभु के निराकार रूप का किस सरल शब्दों में वर्णन किया है—

सबै दिसा सो सारिखा, सबै दिसा मुख बैन ।
सबै दिसा स्रवनहुँ सुणै, सबै दिसा कर नैन ॥
सबै दिसा पग सीस है, सबै दिसा मन चैन ।
सबै दिसा सन्मुख रहै, सबै दिसा अंग ऐन ॥
बिनम स्रवनहुँ सब कुछ सुनै, बिन नैनहुँ सब देखै ।
बिन रसना मुख सब कुछ बोलै, यह दादू अचरज पेखै ॥

परिचय एवं साक्षात्कार के बाद 'सुहाग की घड़ी' आती है जिसका सभी सन्तों ने बड़े ही उल्लास से स्वागत किया है। दादू कहते हैं—

मस्तक मेरे पाँव धरि, मंदिर माहैं आव।
सइयाँ सोवैं सेज पर, दादू चंपैं पाँव॥

प्राण हमारा पीव सौं, यौं लागा सहियै।
पुहुप-बास घृत दूध में, अब कासौं कहियै॥

जब दिल मिला दयाल सौं, तब सब पड़दा दूरि।
ऐसे मिलि एकै भया, बहु दीपक पावक पूरि॥

वस्तुतः होशियार वही है जो अपनी खबर से बेखबर है, अपने तन-मन की सुध बिसर गया है; क्योंकि वह मालिक की याद के नशे में मतवाला झूमता रहता है—

दादू माता प्रेम का, रस में रहा समाइ।
अंत न आवै जब लगें, तब लगि पीवत जाइ॥

दादू हरिरस पीवतौं, कबहूँ अरुचि न होइ।
पीवत प्यासा नित नया, पीवनहारा सोइ॥

हरि-रस को पीनेवाला हर घूँट में नई प्यास पाता है और पीता ही जाता है; क्योंकि 'ज्यों-ज्यों पीवै रामरस त्यों-त्यों बढ़ै पियास'। फिर पीनेवाला चाहता है कि रोम-रोम में रसना होती तब कुछ पीते बनता, एक रसना से कितना रस पिया जाय?

रोम-रोम रस पीजियै, एती रसना होइ।
दादू प्यासा प्रेम का, यौं बिन तृपति न होइ॥

प्रायः सभी सन्तों ने अपने को प्रभु की पतिव्रता नारी के रूप में देखा है और इस भावना के द्वारा अपनी साधना और [illegible]

को दृढ़ किया है। दादू की साखियों में भी 'पतिव्रता को अंग' प्रमुख रूप से है और कहना तो यह चाहिये कि इन साखियों में दादू का दर्दभरा दिल विरह में तड़पता दीख रहा है—

बाला सेज हमारी रे तूँ आव
हौं बारी रे, दासी तुम्हारी रे ॥

तेरा पंथ निहारूँ रे, सुंदर सेज सवाँरूँ रे, जियरा तुम पर वारूँ रे।
तेरा अंगना पेखौं रे, तेरा मुखड़ा देखौं रे, तब जीवन लेखौं रे॥
मिलि सुखड़ा दीजे रे, यह लाहा लीजे रे, तुम देखें जीजे रे।
तेरे प्रेम की माती रे, तेरे रंगड़े राती रे, दादू वारणे जाती रे॥

पिव सौं खेलौं प्रेमरस, तौ जियरे जक होइ।
दादू पावे सेज-सुख, पड़दा नाहीं कोइ॥

तन-मन मेरो पीव सौं, एक सेज सुख सोइ।
गहिला लोग न जाणहीं, पचि-पचि आपा खोइ॥

पतिवरता गृह आपणे, करे खसम की सेव।
ज्यों राखे त्यों ही रहै, आग्याकारी टेव॥

पीव न देखा नैन भरि, कंठि न लागी धाइ।
सूती नहिं गलबाँहि दे, बिचही गई बिलाइ॥

सखी सुहागनि सब कहैं, प्रगट न खेले पीव।
सेज सुहाग न पाइये, दुखिया मेरा जीव॥

सुंदरि कौं साईं मिला, पाया सेज-सुहाग।
पिव सौं खेलै प्रेमरस, दादू मोटे भाग॥

यह सुंदरी और कंत तथा सेज क्या है?

तेजपुंज की सुंदरी, तेजपुंज का कंत।
तेजपुंज की सेज परि, दादू बन्या बसंत॥

साईं सुंदरि सेज परि, सदा एक रस होइ।
दादू खेलै पीव सौं, ता समि और न कोइ॥

प्राय: सभी संतों के जीवन में अनन्त मिलन का उल्लास तथा अनन्त विरह की वेदना का अपूर्व सम्मिश्रण देखने में आता है। एक ही क्षण में दादू कहते हैं—अंतर में साईं से मिल कर बावला हो रहा हूँ; क्योंकि 'सेज हमारी पीव है।' फिर दूसरे ही क्षण कहते हैं—

दादू तलफै पीड़ सौं, बिरही जन तेरा।
सिसकै साईं कारणे, मिलि साहिब मेरा॥

तलफि तलफि बिरहिनि मरै, करि-करि बहुत बिलाप।
बिरह अगिनि में जल गई, पीव न पूछै बात॥

पंथ निहारत पीव का, बिरहिनि पलटे केस।
बिरहिनि दुख कासौं कहै, कासौं देई सँदेस॥

बिरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, पंच पुकारैं पीव॥

विरह की इस 'ताला वेली' में, पिय का पंथ निहारते जीवन का सुनहला यौवन खिसक गया; परंतु प्रीतम न आये। जीवन की हरियाली साथ न मिटी—

ना वहु मिलै न मैं सुखी, कहु क्यों जीवन होइ।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोइ॥

दरसन कारन बिरहिनी, बैरागिन होवै।
दादू बिरह बियोगिनी, हरि-मारग जोवै॥

दादू दरसे दरदवंद, यहु दिल दरद न जाइ।
हम दुखिया दीदार के, मिहरबान दिखलाइ॥

जिस प्रकार देह जीव को प्यारी है और जीव देह को प्यारा है, ठीक इस प्रकार साईं और बिरहिनी का प्रेम है। एक दूसरे के बिना अपूर्ण है। जीव शरीर के बिना अपने को व्यक्त नहीं कर सकता और शरीर जीव के बिना मुर्दा है—

देह पियारी जीव कौं, जीव पियारे देह।
दादू हरिरस पाइये, जे ऐसा होय सनेह॥

इसी प्रकार, एक दूसरे स्थान पर दादू ने कहा है कि प्रेम की परिणति इसमें है कि आशिक माशूक हो जाय और माशूक आशिक—

आसिक मासुक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
दादू उस मासूक का, अल्लहि आसिक होइ॥
राम बिरहिनी ह्वै गया, बिरहिनि ह्वै गइ राम।
दादू बिरहा बापुरा, ऐसे करि गया काम॥

प्रेम की यह चरमावस्था है जब आशिक ही माशूक हो जाय और माशूक ही आशिक हो जाय—जब जीव के प्रेम के लिये प्रभु दर-दर ठोकरें खाते फिरें। प्रेम की इस अवस्था का आनंद संतों के अनुभव के अंतर्गत है—वस्तुतः यह विरह की और मिलन की परमावधि है—जिसमें विरह भी है और मिलन भी—नित्य विरह और नित्य मिलन का अमर संयोग है। इसीलिये दादू ने इश्क का दर्द वरदान में माँगा है—

हमकूँ अपणाँ आप दे, इस्क मुहब्बत दर्द।
सेज सुहाग सुख प्रेम-रस, मिलि खेलैं लापर्द॥

उस 'अनदेखे' के लिये जो दिल में दर्द है, वही संतों के प्राण का अवलम्ब है—

देखे का अचरज नहीं, अनदेखे का होइ ।
देखे ऊपर दिल नहीं, अनदेखे कों रोइ ॥

ज्ञान, ध्यान, जप, तप, साधन, योग आदि इस दिव्य विरह के सामने तुच्छ हैं—

ज्ञान ध्यान सब छाड़ि दे, जप तपसाधन जोग ।
दादू बिरहा ले रहै, छाड़ि सकल रस भोग ॥

इस इश्क के लिये सीस सौंपना पड़ता है—

जब लगि सीस न सौंपिये, तब लग इसक न होइ ।
आसिक मरनै ना डरै, पिया पियाला सोइ ॥

प्रेम के मार्ग में लोक-परलोक दोनों की परवाह नहीं रहती और सारी सुध-बुध बिसर जाती है। इस मार्ग पर जिन्होंने दृढ़ता से पैर रक्खे, उनके मन, प्राण और सुरति उसीमें विलीन हो गयी और फिर मालिक का आला नूर उनके सामने इस प्रकार प्रकट हुआ कि फिर वे एक क्षण के लिये भी उससे अलग न जा सके—

आशिकाँ रह कब्ज-कर्दः, दिल वजाँ रफ्तंद ।
अलह आले नूर दीदम, दिले दादू बंद ॥

विरह की ज्वाला में जलते रहने में भी एक आनन्द है जो प्रेमियों के भाग्य में ही बदा है—

तलफि-तलफि बिरहिनि मरै, करि-करि बहुत बिलाप ।
बिरह अगिनि में जल गई, पीव न पूछै बात ॥

बिरही सिसकै पीड़ सौं, ज्यों घायल रन माहिं ।
प्रीतम मारे बाण भरि, दादू जीवै नाहिं ॥

प्रीत जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माहिं ।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, दादू दूसर नाहिं ॥

बिरहा बपुरा आइ करि, सोवत जगावै जीव।
दादू अंग लगाइ करि, ले पहुँचावै पीव॥

सावन-भादों के महीने में जब समस्त पृथ्वी हरी साड़ी पहनकर पिय से मिलन का साज सजाती है तब बिरही दादू के प्राणों से पुकार निकल रही है—

आसा अपरंपार की, बसि अंबर भरतार।
हरे पटम्बर पहिरि करि, धरती करै सिंगार॥

बसुधा सब फूलै-फलै, पिरथी अनँत अपार।
गगन गरजि जल-थल भरै, दादू जैजैकार॥

रोम-रोम रस-प्यास है, दादू करहिं पुकार।
राम घटा दल उमँगी करि, बरिसहु सिरजनहार॥

संत रैदास की भाव-भगति

मैं अपनो मन हरिजू सें जोर्‌यो,
हरिजू सूँ जोरि सबन सौं तोर्‌यो।
सबही पहर तुम्हारी आसा,
मन-क्रम-वचन कहै रदासा॥

मीरा के मार्गदर्शक, कबीर के समकालीन, धन्ना-पीपा के संगी, प्रातःस्मरणीय, चिरवन्दनीय संत रैदास का नाम कौन नहीं जानता? प्रभु की भक्ति में जाति-पाँति का भेद-भाव न कभी था और न कभी है। भगवान् की प्राप्ति का अधिकार एक चांडाल को भी उतना ही है जितना एक ब्राह्मण को। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा समाज की नीची श्रेणी के ही थे; परन्तु उनका नाम सदा आदर से लिया जाता है। रैदास ने स्वयं कहा है—

जाति भी ओछी, करम भी ओछा, ओछा किसब हमारा ।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है, कह रैदास चमारा ॥

रैदास के जन्म की तिथि अब तक संदिग्ध-सी है। कबीर के सम-सामयिक होने के कारण इनका समय ईस्वी सन् की पंद्रहवीं शताब्दी ठहरता है । रैदास का जन्म काशी में ही हुआ और ये कई बार कबीर के सत्सङ्ग में भी शामिल हुए थे। कथा है कि पूर्वजन्म में ये ब्राह्मण थे और स्वामी रामानन्द के शाप से चमार के घर उत्पन्न हुए। बचपन से ही रैदास साधु-सेवी थे। इस कारण इनके पिता रघु इनपर क्रुद्ध रहा करते थे। बात यहाँ तक बढ़ी कि उन्होंने रैदास को घर से निकाल दिया और खर्च के लिये एक पैसा भी नहीं दिया।

रैदास अलमस्त फक्कड़ थे । लोक-परलोक की, निन्दा-स्तुति की ओर उनकी दृष्टि गयी ही नहीं। घर में एक सती-साध्वी स्त्री थी। जो कुछ घर में होता उसे तैयार कर वह पति की सेवा में ला रखती। रैदास एक मामूली झोपड़े में रहते थे। जूते बनाकर अपनी जीविका चलाते थे। पास में ही श्री ठाकुरजी की चतुर्भुजी मूर्ति थी। जूते टाँकते जाते और प्रेमविह्वल वाणी में अपने हरि की ओर निहार-निहारकर गाते रहते—

प्रभुजी ! तुम चंदन, हम पानी । जाकी अँग अँग बास समानी ॥
प्रभुजी ! तुम घन, हम बन मोरा । जैसे चितवत चंद चकोरा ॥
प्रभुजी ! तुम दीपक, हम बाती । जाकी जोति जरै दिन राती ॥
प्रभुजी ! तुम मोती हम धागा । जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ॥
प्रभुजी ! तुम स्वामी, हम दासा । ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

कहते हैं, इनकी आर्थिक दुरवस्था को देखकर मालिक को दया आयी और उन्होंने साधु-रूप में रैदासजी के पास आकर

उन्हें पारस पत्थर दिया और उससे जूता सीने के एक लोहे के औजार को सोना बनाकर दिखा भी दिया। रैदास ने उस पत्थर को लेने से इनकार कर दिया परन्तु, साधु भी एक हठी था। लाचार होकर रैदास ने कहा, नहीं मानोगे तो छप्पर में खोंस दो। तेरह महीने पीछे जब वही साधु फिर आया और पत्थर का हाल पूछा, तो रैदास ने कहा कि जहाँ खोंस गये थे वहीं देख लो, मैंने उसे छुआ भी नहीं है।

भक्तमाल में रैदास के सम्बन्ध में कई बातें लिखी हैं। उनमें एक यह भी है कि चित्तौड़ की रानी ने, जो एक बार काशीयात्रा के लिये आयी थी, रैदास की महिमा सुनकर उनको अपना गुरु बनाया। रैदास के सम्बन्ध में चमत्कार की कई बातें प्रख्यात हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भगवान के दरबार में जाति-पाँति का उतना महत्त्व नहीं है जितना भक्ति और लगन का है। काशी में एक ब्राह्मण देवता एक रघुवंशी क्षत्रिय की ओर से रोज गंगाजी को फूल, पान और सुपारी चढ़ाया करते थे। एक दिन वह ब्राह्मण रैदास की दूकान पर जूता खरीदने के लिये पहुँचा। बातों में गंगा-पूजा की चर्चा भी चल पड़ी। रैदास ने कहा कि मैं आपको योंही जूता देता हूँ, कृपा कर आप एक मेरी सुपारी गंगा मैया को चढ़ा देना। ब्राह्मण देवता ने उसे जेब में रख लिया और दूसरे दिन जब नहा-धोकर रैदास की सुपारी चढ़ायी, तो गंगाजी ने पानी में से हाथ ऊँचा कर उस सुपारी को ले लिया। यह तमाशा देखकर वह बेचारा ब्राह्मण आश्चर्य-चकित हो रहा।

पूरे १२० वर्ष के होकर रैदास ब्रह्मपद में लीन हो गये। उनके पंथ के अनुयायियों का विश्वास है कि वह सदेह गुप्त हो गये। गुजरात, विहार आदि कई प्रान्तों में लाखों आदमी ऐसे हैं जो अपने को 'रैदासी' कहते हैं।

रैदास निर्गुणिये संत थे। उन्होंने अपने प्रभु को 'माधो' नाम से सम्बोधित किया है। प्रेम और वैराग्य की तो वे मूर्ति ही थे। श्रीहरि के चरणों का अनन्य आश्रय ही उनकी साधना का प्राणहै—

जो तुम तोरो राम, मैं नहीं तोरौं। तुम सों तोरि कवन सों जोरौं॥
तीरथ-बरत न करौं अँदेसा। तुम्हरे चरन कमल क भरोसा॥
जहँ-जहँ जाओं तुम्हरो पूजा। तुम-सा देव और नहि दूजा॥

रैदास की सरलता भी कितनी सरल, कितनी स्वाभाविक है—

नरहरि! चंचल है मति मेरी, कैसे भगति करूँ मैं तेरी॥
तूँ मोहि देखै, हौं तोहि देखूँ, प्रीति परस्पर होई।
तूँ मोहि देखै, तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई॥
सब घट अंतर रमसि निरंतर, मैं देखन नहि जाना।
गुन सब तोर, मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना॥
मैं तैं तोरि-मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुणामय! जै जै जगत-अधारा॥

जब तक मन में किसी प्रकार का विकार भरा है, जब तक वह पूर्णतः स्थिर नहीं हो गया तब तक हम 'निर्मल' भक्ति की साधना से कोसों दूर हैं। ऐसी अवस्था में अन्तरात्मा भक्ति से सराबोर हो तो कैसे? वह उज्ज्वल ज्योतिर्मय चिर प्रकाशमय सवित् देव सर्वत्र और सर्वदा प्रकाशमान हैं; परन्तु जिसे आँखें ही नहीं वह देखे तो किस प्रकार? हृदय निर्मल हुए बिना भक्ति की साधना हो नहीं सकती और जब तक भक्ति नहीं तब तक हरि के साथ 'गठजोर' हो ही कैसे सकता है? भक्त की और भगवान् की आँखें जब चार होती हैं तभी 'प्रीति' का उदय होता है। भगवान् तो अहर्निश हमारी ओर देख रहा है; परन्तु हमारी आँखें जगत के विषयों

पर लुभायी हुई हैं—यही सारी गड़बड़ है। घट-घट में वह साईं रमण कर रहा है, कोई भी सेज सूनी नहीं है—अन्तर का पट हटाकर देखना हम जानते ही नहीं, फिर 'मिलन' हो तो कैसे? संतोंने अपने शरीर को दीपक बना और उसमें रक्त का तेल डाल एवं प्राणों की बत्ती लगा, उसके द्वारा अपने 'पीय' का सुन्दर मुख देखा है। यही 'अमृत-रस' का पान है।

महात्मा सुन्दरदास की अनन्यता

'Seeking nothing, give theyself utterly to Me'

—Sri Krishna Prem

दार्शनिक सत्य की, संत शिव की और प्रेमी सुन्दर की उपासना करता है। दार्शनिक, संत और प्रेमी अपनी-अपनी साधना की अनन्यता द्वारा परमात्मा की अनुभूति तथा प्रभु के दर्शन की ओर ही बढ़ते हैं, प्रत्येक हृदय में प्यास तो है हरि के दरस-परस की ही। उसी हरि को दार्शनिक परम सत्य मानकर परात्पर ब्रह्म परमात्मा कहता है, उसी हरि को संत चराचर का एकमात्र गति, भर्ता प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् मानकर 'अनन्त देवेश जगन्निवास' कहकर पुकारता है और उसी हरि को प्रेमी परम प्रियतम, हृदयवल्लभ, प्राणधन, जीवनसर्वस्व मानकर 'मेरे प्यारे' के नाम से पुकारता है। दार्शनिक प्रभु की सर्वव्यापी विराट् सत्ता की अनुभूति में अपने भीतर एक दिव्य

ज्ञान का प्रकाश पाकर कह उठता है—'अब हम अमर भये न मरेंगे'। संत पग-पग पर प्रभु की अपार अहेतु की दीनवत्सलता का दर्शन कर रोम-रोम से उसी दयामय हरि के चरणों में प्रणिपात करके आर्त्तभाव से पूछता है—'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ?' प्रेमी अणु-अणु में बिखरी हुई, इठलाती हुई, छलकती हुई अपने प्राणप्यारे की परमप्रिय माधुरी का दर्शन कर उस रस में सराबोर होकर प्यारे के अधरों का अमृत पीकर दिव्य उन्माद की अर्धचेतन दशा में गा उठता है—'बसो मेरे नैनन में नंदलाल !'

इस प्रकार दार्शनिक की उच्चतम चिन्तना, संत की उच्चतम साधना और प्रेमी की उच्चतम संवेदना एक साथ ही हरि के चरणों में जाकर निर्वाण प्राप्त करती है ; क्योंकि सभी का परम लक्ष्य तो वही 'एक' है—सारी सृष्टि, समस्त चराचर, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड की भूख-प्यास एकमात्र प्रभु के प्रसाद के लिये ही है। सभी उन्हीं के चरणों की छाया के लिये तड़प रहे हैं । अनादि काल से हमारी राधा-रूपिणी आत्मा की एकमात्र लालसा अपने परम प्रियतम कृष्ण से मिलने की ही है और भिन्न-भिन्न मार्गों से, अबेर-सबेर हम सभी पहुँचेंगे हरि में ही। 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः'। हरि के सिवा कोई गति है ही नहीं। जीव का शिवत्व हरि को पाये बिना संभव नहीं। बंधनों में प्राण घुट रहे हैं; इसीलिये तो हमसभी ज्ञात अज्ञात रूप से हरि की ओर जाने के लिये ही बाध्य हो रहे हैं। बाध्य इसलिये कि, इस पथ में आये बिना कहीं एक क्षण की शान्ति मिलती ही नहीं, इसके सिवा कोई गति ही नहीं ; और—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

इसको जानकर ही हम मृत्यु को लाँघ जाते हैं, परमपद-प्राप्ति के लिये दूसरा मार्ग है ही नहीं।

दार्शनिक, संत और प्रेमी आगे जाकर एक हो हो जाते हैं। प्रत्येक दार्शनिक में संत और प्रेमी, प्रत्येक संत में दार्शनिक और प्रेमी और प्रत्येक प्रेमी में दार्शनिक और संत छिपा रहता है। तीनों की प्रणाली भिन्न अवश्य है, अनुभूति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है, रस का आस्वादन भी अपने-अपने ढंग से होता है; पर जहाँ दर्शन अथवा मिलन है वहाँ तो मूल लक्ष्य एक होने के कारण एक साथ ही दार्शनिक, संत और प्रेमी के हृदय की साध पूरी हो जाती है। जहाँ 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की दिव्य अनुभूति है, वहाँ 'वासुदेवः सर्वमिति' की भी और जहाँ यह अनुभूति है, वहाँ दार्शनिक, संत और प्रेमी घुले-मिले हैं।

कोरे बौद्धिक व्यायाम को भारत ने कभी दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया। केवल विचार के द्वारा हम जी ही नहीं सकते। मनुष्य केवल मास्तिष्क नहीं है, प्रभु ने उसे हृदय भी दिया है। पूर्ण मनुष्य तो विचार और अनुभूति को मिलाकर ही है।

भारतीय दर्शन ने इसीलिये हृदय का बहिष्कार नहीं किया। हमारे उपनिषद् केवल 'नेति-नेति' पर जाकर रुक नहीं गये, अपितु आगे बढ़कर हृदय को रस में सराबोर कर देनेवाला मनोहर मंत्र 'रसो वैसः' भी सुनाया और इसे सुनकर हमारी समस्त आत्मा, रोम-रोम प्रभु के रस में डूब गयी और उस रसानुभूति में हम अपने भीतर साक्षात् प्रभु के दिव्य आलिंगन का मधु पीकर गा उठे—

> तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्य—
> स्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृ० उ०-१-४-८)

सबको हटाकर, सारे स्तरों को बेधकर, मैं अपने भीतर आनन्द का जो लहराता हुआ अपार पारावार देख रहा हूँ, इस उमड़ते हुए अनन्त प्रेम-समुद्र में जो मैं डुबकी लगा रहा हूँ, माधुर्य की इस अजस्र अविरल महावृष्टि में नहा रहा हूँ—यही हमारे प्रियतम की प्रीति है, हम उसके हृदय के वासी हैं। अब हम एक क्षण के लिये प्रेम, आनन्द और सौंदर्य के इस पारावार को छोड़ नहीं सकते; अब छोड़कर जाना ही कहाँ है ? जब तक नहीं देखा था, जब तक प्राणों को इसकी रसानुभूति नहीं हुई थी, तभी तक संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों में सुख ढूँढ़ रहा था। परन्तु, वहाँ सुख कैसे मिलता ? सारा सुख तो केन्द्रीभूत होकर यहाँ लहरा रहा है। यही वह 'प्रिय' है जिसे जन्म-जन्मान्तरों से हम खोज रहे थे, जिसे पाने के लिये वन, पर्वत, गिरि, गह्वर छानते फिरे। हमारा दिलबर तो हमारे भीतर ही छिपा था—वही तो हमारी 'आत्मा' है—वह हमारे प्राणों का प्राण, हृदय का सर्वेश्वर हमारा सर्वस्व है, उसके बिना हम एक क्षण भी प्राण कैसे धारण कर सकते हैं ?

आत्मदर्शन की अनुभूतिमूलक यह मधुर प्रणाली भारतीय जीवन की एक महान् विशेषता है। इस विशेषता के कारण ही भारत का अस्तित्व है, इसे खोकर वह सब कुछ खो देगा। कपिल, कणाद, गौतम से लेकर आज तक की विशुद्ध भारतीय चिन्तन-धारा में एक अविच्छिन्नता रही है और वह है सर्वत्र हरि-दर्शन की लालसा। उपनिषदों ने बहुत पहले ही डंके की चोट यह कहा था कि अन्त में हमें वहीं उस 'एक' में जाकर लय हो जाना पड़ेगा। वहाँ हम अपना नाम और रूप खोकर तन्मय, तल्लीन, तदाकार हो जायँगे। यह प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र परम लक्ष्य है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे—

अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः—
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(मुण्डक० उ० ३-२-२)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में मिलकर अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार नाम-रूप से विमुक्त होकर विद्वान् पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवत में इसी बात को दूसरे ढंग से कहा है—

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध—
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये—
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥
(११-१२।१२)

समाधि में स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्र में मिल जाने पर नदियाँ जैसे अपने नाम और रूप को गँवा देती हैं, उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश मुझमें ही निरन्तर मन लगे रहने के कारण भक्तों को अपने शरीरादि की भी कोई सुध नहीं रहती।

ऐसे ही आत्मदर्शी, हरिचरणानुरागी संतों में महात्मा सुन्दरदासजी का एक विशिष्ट स्थान है। ज्ञान की चरम अवस्था में पहुँचकर संत का जीवन हरिमय हो जाता है, उसका खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना सब हरि के लिये, हरि में, हरि के पूजा-स्वरूप होता है और उसमें प्रेरणा का अमृत भी हरि के द्वारा ही अहर्निश प्राप्त होता रहता है। संत का मुख सदा हरि की ओर ही होता है और वह उस अपरूप रूप को निरख-निरखकर अलमस्त डोलता है; जहाँ आँखें गयीं वहीं हरि, जहाँ हाथ गया

वहीं हरि का स्पर्श, जहाँ पैर पहुँचे वहीं हरि का मन्दिर। संत तो सदैव, चाहे जहाँ रहे हरि के मन्दिर में, हरि की सेवा में ही रहता है—

बैठत रामहि ऊठत रामही।
बोलत रामहि राम रह्यो है॥
जीमत रामहि पीवत रामही।
धामहि रामहि राम गह्यो है॥
जागत रामहि सोवत रामही।
जोवत रामहि राम लह्यो है॥
देतहु रामहि लेतहु रामही।
'सुन्दर' रामहि राम रह्यो है॥

महात्मा सुन्दर दासजी दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में थे। इनके जन्म का वृत्तान्त बड़ा ही कुतूहलपूर्ण है। इन्हें अपने गुरु की आज्ञा से सती के गर्भ में रहना पड़ा। कहानी यों है कि दादू के एक प्रेमी शिष्य जग्गाजी आमेर नगर में अपने वस्त्र बुनने के लिये सूत माँग रहे थे और अपनी उमंग में यह हाँक लगा रहे थे—'दे माई सूत, ले माई पूत'। एक क्वाँरी कन्या ने सूत लाकर कहा 'लो बाबाजी सूत', जग्गाजी ने कहा 'लो माई पूत'। गुरु को जब यह हाल मालूम हुआ तो, वे चिन्ता में पड़े, क्योंकि उस कन्या के भाग्य में बालक लिखा नहीं था। अन्त में जग्गाजी को ही उसके गर्भ में जाकर वास लेना पड़ा और दिन पूरे होने पर उस कन्या के गर्भ से चैत सुदी नवमी संवत् १६५३ में उन्होंने जन्म लिया।

संवत् १६५६ में जब सुन्दरदास की अवस्था छः वर्ष की थी, दादूजी इनके घर पधारे। पिता ने बालक को उनके चरणों में डाल

दिया। दादूदयाल उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—'यह बालक बड़ा ही सुन्दर है।' 'सुन्दर' नाम आपका तभी से पड़ा। गुरु के दर्शनमात्र से सुन्दरदास का अन्तर्ज्ञान चमक उठा। अपने गुरुदेव दादूदयाल की महिमा सुन्दरदास ने बड़े ही ओजपूर्ण प्रभावशाली शब्दों में गायी है—

भव जल में बहि जात हुते जिन,
काढ़ि लियो अपनो करि आदू।
और सँदेह मिटाय दिये सब,
कानन टेर सुनाय के नादू॥

पूरन ब्रह्म प्रकास कियो पुनि,
छूटि गयो यह बाद-बिबादू।
ऐसी कृपा जू करी हम ऊपर,
सुन्दर के उर हैं गुरु दादू॥

संसार-सागर में मैं बहा जा रहा था। श्री गुरुदेव ने दया कर मुझे अपनाया और हाथ पकड़कर उससे काढ़ लिया। कानों में 'शब्द' सुनाकर सारे सन्देह मिटा दिये। 'शब्द' की टेर सुनते ही अन्तस् में पूर्ण ब्रह्म का दिव्य तेज जगमगा उठा, सारे वाद-विवाद छिन्न-भिन्न हो गये; जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। श्री गुरुदेव ने मुझपर ऐसी अपार कृपा की है और वे श्री गुरुदेव दादूदयाल मेरे हृदय में विराज रहे हैं।

ऐसे कृपालु गुरुदेव का गुण गाते-गाते सुन्दरदास थके नहीं। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि गुरु की कृपा के बिना ज्ञान, ध्यान, भक्ति, प्रेम तथा मुक्ति असंभव है। इस पिण्ड में गुरुदेव ने ही प्राण डाला है।

गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं,
गुरु बिन आतम बिचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन सीलहु सन्तोष न गहतु है॥

गुरु बिन प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकास नहिं,
भ्रमहू को नास नहिं, संसेई रहतु है।
गुरु बिन बाट नहिं, कौड़ी बिन हाट नहिं,
सुन्दर प्रकट लोक, बेद यों कहतु है॥

साधन पथ में अविराम चलते रहने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम जीवन के सत्य स्वरूप को पहचानें और संसार के जो नाते हैं उसके मूल में स्वार्थ का जो संबंध है, उसे परखें। ऋषियों ने भी डंके की चोट हमें बतलाया है कि सबके लिये सब प्यारे नहीं होते, आत्मा के लिये ही सब प्यारे होते हैं। जब तक इस काया में चेतन शक्ति है तभी तक भाई, बन्धु, हित-नात का प्यार-दुलार है। इसके लीन होते ही यह देह अपने प्रिय स्वजनों को भी घिनौनी हो जाती है। पिंजरा रह जाता है, पंछी उड़ जाता है। इस पंछी के लिये ही लोग हमें प्यार करते हैं, पहचानते हैं। इसलिये, सब कुछ का मोह छोड़कर हमें इस भीतर के पंछी से नाता जोड़ना चाहिये; क्योंकि एकमात्र वही 'अपना' है। पंछी के उड़ते ही —

मातु तौ पुकार छाती कूटिकूटि रोवति है,
बाप हू कहत मेरो नन्दन कहाँ गयो।
भैया हू कहत, री बाँह आजु टूरि भई,
बहिन कहति मेरो बीर दुःख दे गयो।

कामिनी कहति मेरो सीस सिरताज कहाँ,
उन्हें तत्काल रोई माँग सरापा लयो।
सुन्दर कहत कोऊ ताहि नहिं जानि सकै,
बोलत हुतो सो यह छिन में कहाँ गयो।

पिंजड़े में जो पंछी चहचहा रहा था, वह उड़कर कहाँ चला गया ?

संसार के इस अस्थिर रूप को देखते हुए भी हम द्वार-द्वार जूठी पत्तलें चाटते फिरते हैं। आज इसके आगे हाथ फैलाते हैं, कल उसके आगे। संसार में न जाने कितनों को अपना प्रभु, स्वामी, मालिक तथा अन्नदाता बनाते फिरते हैं। मालिकों की इस जमघट में हमारा एकमात्र सच्चा 'मालिक' न जाने कहाँ भूल गया है। हम इन प्रभुओं की ओर याचना-भरी दृष्टि से देखते हैं, पेट खलाकर माँगते हैं, इनके सामने दीन, हीन, दरिद्र, असहाय, अनाथ, अनाश्रित न जाने क्या-क्या बनते हैं और इनकी ओर हसरत-भरी दृष्टि से देखते रहते हैं। एक बार इनकी दृष्टि पड़ी कि हम अपने को निहाल मान लेते हैं और अपने भाग्य को सराहते हैं। परन्तु हाय! हमें एक क्षण के लिये भी यह होश नहीं आता कि ये मालिक भी जिस एक मालिक से भीख की याचना करते हैं, उसी के सामने हम हाथ पसारें और संसार में किसी के सामने भी दीन न बनें। दीन तो एकमात्र प्रभु के सामने ही होना चाहिये, संसार के सामने कभी दीनता लानी ही नहीं—

होइ निचिन्त करै मत चिन्तहिं,
चोंच दई सोइ चिन्त करैगो।
पाउँ पसारि परयो किन सोवत,
पेट दियो सोइ पेट भरैगो॥

जीव जिते जलके थलके पुनि,
पाहन में पहुँचाय धरैगो ।
भूखहिं भूख पुकारत हैं नर,
सुन्दर तू कह भूख मरैगो ॥

एकमात्र भगवान् का भरोसा रखते हुए, पाँव पसारकर, संसार से आँखें हटाकर निश्चिन्त सोना है। जहाँ तक भगवान् के सिवा और किसी का आश्रय है, वहाँ तक रोना ही रोना है। मनुष्य एक क्षण के लिये यह सोचता नहीं कि जन्म तो भगवान् ने दिया है फिर उन्हीं को हमारी सभी चिन्ताएँ भी हैं और हमारा सारा भार उनके ही ऊपर है। हम नाहक अपना भार औरों पर डालते फिरते हैं। संसार में कोई हमारा भार क्या उठा सकेगा? सब अपने ही भार से दबे जा रहे हैं। आदि, मध्य और अन्त में एकमात्र आश्रय हरि का ही है—वह ढलेंगे ही।

भाजन आप गढ़े जिसने,
भरिहैं भरिहैं भरिहैं भरिहैं जू।
पातक हैं जिनके गुणकूँ,
ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं जू।
आदिहु अंतहु मध्य सदा,
हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू।
सुन्दरदास सहाय सही,
करिहैं करिहैं करिहैं करिहैं जू।

संत-महात्माओं ने साधना में अनन्यता की स्थापना के लिये सदा पतिव्रता स्त्री का दृष्टान्त सामने रखा है। जैसे-पतिव्रता स्त्री स्वप्न में भी अपने पति के सिवा किसी की ओर नहीं निहारती, उसी प्रकार साधक भी हरि के सिवा किसी की ओर देखता

तक नहीं—उसकी गति और मति एकमात्र प्राणपति हरि ही है। ज्ञान-ध्यान, जप-योग, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत आदि एकमात्र पतिदेव ही है—

पति ही सूँ प्रेम होइ पति ही सूँ नेम होइ,
पति ही सूँ छेम होइ पति ही सूँ रत है।
पति ही है जाप-जोग, पति ही है रस-भोग,
पति ही सूँ मिटै सोग, पति ही को गत है॥
पति ही है ग्यान-ध्यान, पति ही है पुन्नदान,
पति ही है तीर्थ-स्नान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुन्दर सकल विधि एक पतिव्रत है॥

प्राणों की भीषण ज्वाला एकमात्र पतिदेव के दर्शन-स्पर्श से ही मिटेगी। नदी की भूख तो समुद्र के लिये ही है, ताल-तलैयों से उसकी व्यथा कैसे मिटेगी—वह वहाँ क्यों विरमेगी? प्राणपति हरि को तजकर जो किसी और को भजता है, उसकी भक्ति भक्ति नहीं—उसकी निष्ठा निष्ठा नहीं। प्रेम की गली में तो 'दो' की गुजर ही नहीं है—

जो हरि को तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई।
ज्यूँ अपने भरतारहिं छाड़ि भई बिभचारिणि कामिनी कोई॥
सुन्दर ताहि न आदर मान, फिरै बिमुखी अपनी पत खोई।
बूड़ि मरै किन कूप मँझार कहा जग जीवत है सठ सोई॥

हृदय में हरि के सिवा किसी को लावे ही नहीं, अनन्य भाव से एकमात्र प्रभु को ही भजे, उसी एक के चरणों में अपने हृदय की भेंट चढ़ावे। सिर झुके तो उसी के सामने नहीं तो टूक-टूक हो जाय। जिन हाथों से माँग में सिंदूर पड़ा है, उन्हीं हाथों में

हृदय सौंप दिया, उसी के चरणों में अपने आपको उत्सर्ग कर दिया वह चाहे तारे या मारे। उसकी समस्त क्रिया, सारे व्यापार में ही एक अपार प्यार भरा है। और किसी का आश्रय लेना ही क्यों? अमृत पीकर फिर हलाहल के लिये क्यों तरसना?

> होइ अनन्य भजे भगवंतहि और कछू उर में नहिं राखै।
> देवि रु देव जहाँ लगि हैं, डरके तिन सूँ कहि दीन न भाखै॥
> जोगहु जग्य व्रतादि क्रिया तिनको तो नहीं सुपने अभिलाखै।
> सुन्दर अमृत पान कियो, तब तो कहु कौन हलाहल चाखै॥

अपने पति के अतिरिक्त और कहीं दृष्टि जाते ही पतिव्रता का धर्म भ्रष्ट हो जाता है। वह और की ओर निहारती ही नहीं। उसके हृदय की एकमात्र साध है—

> लालन मेरा लाड़िला रूप बहुत तुम माहिं।
> सुन्दर राखै नैन में, पलक उघारै नाहिं॥

मेरे सुन्दर! आ जा, मैं तुझे अपनी आँखों में छिपा लूँ, मैं तुझे देखता रहूँ, तू मुझे। न मैं और को देखूँ, न तुझे और को देखने ही दूँ। पत्नी पति के प्रेम पर एकाधिपत्य चाहती है, उसी प्रकार भक्त भी चाहता है कि प्रभु की समग्र प्रीति हमें ही मिले और किसी को इसमें भाग मिले ही नहीं। प्रभु तो प्रेम का भिखारी है। प्रेम के एक कण के लिये वह तरसता रहता है और जहाँ हमारे हृदय में उसके लिये टीस उठी, प्रेम की लहर जगी कि वह हमारे भीतर आकर बन्दी हुआ। पर उसे बुलाने के लिये हममें से कितने तैयार हैं?

> पूरण काम सदा सुखधाम, निरंजन राम सिरजन हारौ।
> सेवक होइ रह्यो सबको नित, कीटहि कुंजर देत अहारौ॥

भंजन दुक्ख दरिद्र निवारण, चिंत करे पुनि साँझ सबारो।
ऐसे प्रभू तजि आन उपासत, सुन्दर है तिनको मुख कारो॥

जो प्रभु पूर्णकाम है, सुख का आगार है, वही नित्य-निरंजन हम सबको सिरजनेवाला है और वही हम सबका सेवक होकर कीट से कुंजर तक को आहार पहुँचाता है। दुःख को मिटाकर, दरिद्र का निवारण कर सायं प्रातः हर समय हमारी सुध रखता है। ऐसे परम दयालु प्रभु को छोड़कर जो दूसरे की उपासना करते हैं, उनके जीवन को धिक्कार है।

एक संत के वचन हैं—

"Fling yourself upon God's providence without making any reserve whatever—take no thought for the morrow, sell all you have and give it to the poor. Only when the sacrifice is ruthless and reckless will the higher safety really arrive.

भगवान् की दया पर सर्वथा अपने को छोड़ दो, उसके चरणों में अपना सब कुछ सौंप दो। कोई वस्तु रह न जाय। कल की परवा न करो। जो कुछ तुम्हारे पास है, दरिद्र नारायणों में बाँट दो। हमारा समर्पण जितना ही सर्वाङ्गीण और संकोचहीन होता है, उतनी ही अधिक अनुकम्पा हमपर प्रभु की बरसती है।

ऐसा सर्वाङ्गीण, संकोचहीन अनन्य समर्पण एकमात्र पत्नी का पति में होता है और इसे ही सब सन्तों ने आदर्श माना है।

सुन्दर पतिव्रत रामसों, सदा रहै इकतार।
सुख देवै तो अति सुखी, दुख तौ सुखी अपार॥

प्रभु में हमारा पातिव्रत सदा-सदैव एकतार बना रहे। यदि वह हमें सुख दें, तो सुखी हों और दुःख भी दें, तो अपार सुखी

हाँ—प्रियतम की चपत में जो प्यार है, उसका रस बहुतों ने चखा होगा। सुख और दुःख भगवान् की दो भुजायें हैं जिनके द्वारा वह अपने प्रेमी का आलिङ्गन किया करता है।

प्रीतम मेरा एक तूँ, सुन्दर और न कोइ।
गुप्त भया किस कारने, काहि न परगट होइ॥

तुम्हीं एकमात्र मेरे प्राणवल्लभ प्रियतम हो। तुम्हारे सिवा मेरा कोई है ही नहीं। तुम भी यों छिपे हुए हो, प्राणों की हाहाकार देखकर तरस नहीं खाते और अपनी एक झलक नहीं दिखलाते यह तुम्हारी कैसी निष्ठुरता है। प्यारे की इस मीठी निष्ठुरता में भी कितनी ममता है। उसे धूप-छाँह का खेल बहुत ही प्रिय है और एक क्षण छिपकर दूसरे ही क्षण—

सुन्दर अन्दर पैसि करि, दिल में गोता मारि।
तो दिल ही में पाइये, साईं सिरजनहारि॥

सज्जन हमारा मानिये, मत खोजे कहुँ दूर।
साईं सोने बीच है, सुन्दर सदा हजूर॥

सुन्दर दिल की सेज पर, औरति है अरवाह।
उसको जाग्या चाहिये, साहिब बेपरवाह॥

भीतर पैठकर दिल के भीतर गोता मारने पर दिल में ही साईं के दर्शन होते हैं। वह तो हमारे भीतर ही प्राणों में विहर रहा है, बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं। दिल की सेज पर जीवात्मा जगकर हरि के अधरों का अमृत पीकर छका हुआ है। परम प्रेम की यही दिव्य मनोहर क्रीड़ा है। मिलन-मन्दिर की यही परम गोपनीय लीला है। इसे वाणी में व्यक्त नहीं कर सकते; क्योंकि यह 'मूका' स्वादनवत् है, स्वसंवेद्य है, अनिर्वचनीय है।

मलूकदास की अजगरी वृत्ति

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥

मलूकदास की ये पंक्तियाँ बहुतों को याद हैं और इनके आधार पर प्रमाद, आलस्य, अकर्मण्यता आदि का पोषण करने-वाले बड़े मजे में इन्हें दुहराया करते हैं। उन्हें क्या पता कि संतों की अजगरी वृत्ति और जन-साधारण की अकर्मण्यता में जमीन-आसमान का फरक है। फिर भी, इन दो पंक्तियों को लेकर दास मलूका जन-साधारण की स्मृति में हैं, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

मलूकदास का जन्म प्रयाग जिले के कड़ा गाँव में बैसाख बदी ५ संवत १६३१ तदनुसार सन १५७४ में हुआ था। इनके पिता का नाम लाला सुन्दरदास था और ये जाति के खत्री थे, उपाधि थी कक्कड़। मलूकदास बचपन से ही उदार प्रकृति के थे और साधु-

सेवा में इनकी तबीयत अधिक रहती थी। कहते हैं, साधुओं की एक बहुत बड़ी जमात एक बार इनके घर पहुँची। इन्होंने घर में जो कुछ भी सामग्री थी, सबकी सब उनकी सेवा में लगा दी। एक बार ये कंबल बेचने पास के एक हाट में गये थे। लौटते समय एक आदमी इनका गट्ठर घर पहुँचा गया; परन्तु वह मजदूर के रूप में स्वयं भगवान थे। इस घटना से मलूकदास की दृष्टि ही पलट गयी और वे कमरा बन्द कर भगवान के ध्यान में बैठ गये—चार-पाँच दिन बन्द ही रहे जब भगवान् ने साक्षात् दर्शन देकर इन्हें कृतकृत्य कर दिया। इसके बाद इनके जीवन का एकमात्र व्यवसाय ध्यान, भजन और सतसंग रहा।

इनके संबंध में चमत्कार की कई घटनाएँ प्रसिद्ध हैं—अकाल में पानी बरसाना, डूबते हुए जहाज को बचा लेना, अन्तर्धान होकर कहीं का कहीं प्रगट हो जाना, मृत्यु के मुख से लोगों को बचा लेना आदि। औरंगजेब की इनपर बड़ी आस्था थी और इसी कारण उसने कड़ा गाँव पर जजिया टैक्स नहीं लगाया। औरंगजेब का एक प्रमुख सरदार फतेह खाँ मलूकदास का शिष्य हो गया था और उसका पीछे जाकर मीर माधव नाम पड़ा था।

मलूकदास ने मुरार स्वामी से दीक्षा ली थी। पूरी १०८ वर्ष की पवित्र आयु व्यतीत कर ये महासमाधि में लीन हो गये। ये बराबर गृहस्थाश्रम में ही रहे और इन्हें एक कन्या हुई थी; परन्तु थोड़े ही काल में इनकी पत्नी और कन्या दोनों का देहान्त हो गया।

जिस दिन महासमाधि में ये प्रवेश करनेवाले थे, उस दिन इनके शिष्यों और कुटुम्बियों के हृदयाकाश में घंटा और शंख का शब्द होने लगा। इनके आज्ञानुसार इनका शरीर गंगा में

प्रवाहित कर दिया गया और कहते हैं कि वह प्रयाग के त्रिवेणी घाट पर, फिर काशी में दशाश्वमेध पर किनारे लगकर कुछ देर ठहर गया था। फिर वह जगन्नाथपुरी में जा लगा। जगन्नाथजी ने अपने पंडों को स्वप्न दिया कि समुद्र-तट पर एक रथी है, उसे उठा लाओ। पंडे उसे उठाकर मूर्ति के सम्मुख रखकर आप बाहर आ गये और मंदिर के पट बन्द हो गये। बाबाजी ने जगन्नाथजी से प्रार्थना की कि हमारे विश्राम को आपके पनाले के पास का स्थान, भोजन को आपके भोग के चावल-दाल के किनके पछोरन, और शाक के छिलके की भाजी मिले। जगन्नाथजी ने प्रार्थना स्वीकार कर ली ; और कहते हैं, जगन्नाथजी के पनाले के पास मलूकदास का स्थान अब भी विद्यमान है और उनके नाम का रोट अब भी चढ़ता है जो यात्रियों को जगन्नाथजी के भोग के साथ प्रसाद में मिलता है।

'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध'--ये दो हस्तलिखित ग्रंथ बाबा के लिखे मिलते हैं जो उनके परिवारवालों के यहाँ सुरक्षित रखे हुए हैं। इनके पंथ की मुख्य-मुख्य गद्दियाँ प्रयाग, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल में हैं। इनके भांजा मथुरादास ने इनकी विस्तृत जीवनी 'परिचयी' नाम से लिखी है जो अभी तक अप्रकाशित है। गीता के प्रति इनकी बड़ी भक्ति थी और ये 'रामनाम' की भक्ति का सदा प्रचार किया करते थे। ये अवतारी 'राम' के उपासक नहीं थे। यह बहुत स्पष्ट है कि संतों के राम और भक्तों के राम में बहुत अन्तर है--पहले के निर्गुण निराकार, निरंजन हैं ; दूसरे के सगुण और साकार।

'सबके दाता राम' वाला भाव कई स्थानों में मलूकदास के पदों में आया है। ऐसी निर्भरता वस्तुतः बड़ी दुर्लभ है जिसमें सब कुछ छोड़कर—'सर्वधर्मान्परित्यज्य' एकमात्र प्रभु का 'आश्रय

ले लिया जाता है और फिर जो कुछ होता है सब आनन्द-मङ्गल ही होता है, अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता—

हरि समान दाता कोउ नाहीं, सदा विराजैं संतन माहीं ॥
नाम बिसंभर बिस्व जियावैं, साँझ-बिहान रिजिक पहुँचावैं ॥

उसी के हाथ में अपनी नौका छोड़कर मलूका मस्त होकर गा रहे हैं—

नैया मेरी नीके चलन लगी ।
आँधी मेंह तनिक नहिं डोली साधु चढ़े बड़भागी ॥
रामराय डगमगी छोड़ाई, निर्भय कढ़िया लैया ।
गुन लहासि की हाजत नाहीं, भाठा साज बनैया ॥
अवसर परै तो पर्वत ओझै, तहूँ न होवै भारी ।
धन सतगुरु यह जुगुति बताई, तिनकी मैं बलिहारी ॥
सूखे परै तो कछु डर नाहीं, ना गहिरे का संसा ।
उलटि जाय तो बार न बाँकै, या का अजब तमासा ॥
कहत मलूक जो बिन सिर खेवै, सो यह रूप बखानै ।
या नैया के अजब कथा कोइ बिरला केवट जानै ॥

बार-बार उसी एक ही की शरण लेते हैं--जिसे वे 'तुही मातु, तुही पिता, तुही हित-बंधु है' कहते हैं—

एक तुम्हईं प्रभु चाहौं राजा ।
भूपति रंक सैलि नहिं पूछौं, चरन तुम्हार सँवारयो काज ॥
तुम्हैं छाँड़ि जानै जो दूजा तेहि पापी पर परिहै गाज ।
कहै मलूक मेरो प्रान रमइया, तीन लोक ऊपर सिरताज ॥

यदि मित्रता करे तो एकमात्र उसी से--संसार के बनने-मिटनेवाले मरणधर्मा प्राणियों से मित्रता कैसे हो की ?

सदा सोहागिन नारि सो, जाके राम भतारा ।
मुख माँगे सुख देत हैं, जगजीवन प्यारा ॥
नर देही दिन दोय की, सुन गुरुजन मेरी ।
क्या ऐसों का नेहरा, मुए बिपति घनेरी ॥
ना उपजे ना बीनसै, संतन सुखदाई ।
कहैं मलूक यह जानि कै, मैं प्रीति लगाई ॥

मलूकदास उसी साजन के दीदार में दीवाना बने अलमस्त डोल रहे हैं—सारा धर्म-कर्म बिसर गया है, सब पूजा-पाठ जप-तप, ध्यान-धारणा उस 'एक' के दीदार में डूब गयी है—

तेरा मैं दीदार-दिवाना ।
घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूँ सुन साहेब रहमाना ॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की, पीया प्रेम-पियाला ।
ठाढ़ होउँ तो गिर-गिर परता, तेरे रंग मतवाला ॥
कहैं मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सों दिल लाया ।
मक्का हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया ॥

'कजा' कहते हैं, छूटी हुई नमाज पूरा करने को।

इस दीदार में प्रेमी प्रियतम और प्रियतम प्रेमी बन जाता है—संत और भगवंत के इस मिलन के संबंध में मलूकदास ने लिखा है—

दर्द-दिवाने बावरे, अलमस्त फकीरा ।
एक अकीदा लै रहे, ऐसे मन-धीरा ॥
प्रेम-पियाला पीवते, बिसरे सब साथी ।
आठ पहर यों झूमते, ज्यों माता हाथी ॥
उनकी नजर न आवते, कोइ राजा रंक ।
बंधन तोड़े मोह के, फिरते निहसंक ॥

साहेब मिल साहेब भये, कछु रही न तमाई ।
कहैं मलूक तिस घर गये, जहँ पवन न जाई ॥

इसे समझने लायक भाषा में 'प्रेमाद्वैत' की स्थिति कह सकते हैं ।

वात्सल्य रस की व्यंजना भी कहीं-कहीं बहुत सुन्दर हुई है—

जहाँ-जहाँ बच्छा फिरे, तहाँ-तहाँ फिरे गाय ।
कहैं मलूक जहाँ संत जन, तहाँ रमैया जाय ॥

सारी चिन्ता प्रभु पर है, जीव व्यर्थ ही चिन्ता करके हैरान हुआ करता है—यही बार-बार मलूक की शिक्षा है—

औरहिं चिन्ता करन दे, तू मत मारे आह ।
जाके मोदी राम से, ताहि कहाँ परवाह ॥

यह अलमस्ती, यह बेफिक्री 'नाम' के आश्रय से ही प्राप्त होती है—

जीवहुँ तें प्यारे अधिक लागैं मोहीं राम ।
बिन हरिनाम नहीं मुझे और किसी से काम ॥

कह मलूक हम जबहिं तें, लीन्हीं हरि की ओट ।
सोवत हैं सुख नींद भरि, डारि भरम की पोट ॥

गाँठी सत्त कुपीन में, सदा फिरै निःसंक ।
नाम अमल माता रहै, गिनै इन्द्र को रंक ॥

साहेब मेरा सिर खड़ा, पलक-पलक सुधि ले ।
जबहीं गुरु किरिपा करैं, तबहिं राम कछु दे ॥

प्रेम जितना गुप्त रक्खा जाय, उतना ही वह प्रभावशाली होता है; चाहे जिस तरह हो उसे बड़े यत्न से छिपाकर ही रखना चाहिये, कोई जान न ले—

जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि-कहि न सुनाव।
अंतरजामी जानिहै, अंतरगत का भाव॥

गुप्त प्रगट जेही करी, करें मन की खूम।
अंतरजामी रामजी, सब तुमको मालूम॥

सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखै न कोय।
ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय॥

और फिर—

माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहों न राम।
सुमिरन मेरा हरि करे, मैं पाया बिसराम॥

सूफी साधना

'सूफी' शब्द का सरल अर्थ है प्रेमसाधना का साधक। अरबी में 'सूफ' का अर्थ है ऊन। सूफी साधक ऊन की कफनी और कनटोप पहनते थे, इसलिये भी इसका प्रयोग इस अर्थ में होने लगा। कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि सूफी शब्द अरबी के सफ़ से बना है। इसके सिवा यह भी कहा जाता है कि जब अरबवासी अज्ञान के अन्धकार में ढँके हुए थे उस समय सूफा नाम की एक ऐसी जाति थी जो जगत् के प्रपञ्चों से अलग रहकर मक्के की सेवा में लगी रही और उस जाति में जो संत हुए उन्हें सूफी संत कहते हैं।

मुसलमानों का वह उदार दल जो परमात्मा की परम-प्रियतम के रूप में उपासना करता है, सूफी कहलाता है। सूफी औलिये, दरवेश और फकीरों में कई श्रेणियाँ हैं और वेश-भूषा, ध्यान-जप की पद्धति में भी अवश्य ही उनमें कुछ अन्तर देखने में

आता है; परन्तु एक बात में वे सभी सहमत हैं कि प्रभु की प्रेरणा शुद्ध हृदय में प्राप्त होती है। सूफियों के दो मुख्य स्कूल हैं—एक वे जो भगवत्प्रेरणा में विश्वास करते हैं और दूसरे वे जो भगवान् में तल्लीनता प्राप्त कर एक हो जाने में विश्वास करते हैं। पहले 'इलहामिया' कहलाते हैं और दूसरे 'इत्तिहादिया'।

संक्षेप में, सूफी मत का सार तत्त्व समझना चाहें तो बस इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि सूफियों की मान्यता हमारे वैष्णव-धर्म की प्रेम-साधना से बहुत अंशों में एक है। सूफी मानते हैं कि जो कुछ 'सत्ता' है वह एकमात्र प्रभु की है—सभी कुछ प्रभु में है और सभी कुछ में प्रभु है। दृश्य-अदृश्य सभी पदार्थ उसी एक प्रभु से निकले हैं और प्रभु से ओतप्रोत हैं। मनुष्य की इच्छाएँ भगवान् के अधीन हैं और मनुष्य कर्म करने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। इस शरीर के पहले भी आत्मा था। वह इस शरीर में ठीक उसी प्रकार बन्द है जैसे पिंजड़े में पंछी। इसलिये सूफी मृत्यु का बड़े उल्लास के साथ स्वागत करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि इस शरीर के पिंजड़े से निकलकर हमारे अन्तर का पंछी अपने प्रियतम के मधुर आलिङ्गन का आनन्द लूटेगा। मृत्यु ही मनुष्य को शुद्ध करके प्रभु से मिला देती है। प्रभु के साथ हमारी आध्यात्मिक एकता तबतक नहीं हो सकती जब तक हमें प्रभु का अनुग्रह न प्राप्त हो। उस अनुग्रह को सूफी 'फयाज़ान उल्लाह' अथवा 'फज़लुल्लाह' कहते हैं। जीवन भर सूफी का एकमात्र कर्त्तव्य यही है कि वह भगवान् का स्मरण-चिन्तन करे, भगवान् का नाम जपे (ज़िक्र करे) और अपना जीवन इतना सादा और पवित्र बना ले कि उसे भगवान् की प्राप्ति हो जाय।

जगत् की ओर से मुँह फेरकर भगवान् के पथ में चलने की उत्कण्ठा का बीजारोपण जब हृदय में होता है उस समय

साधक का नाम 'तालिब' है। इस पथ में जब वह प्रवृत्त हो जाता है तो उसे 'मुरीद' कहते हैं। किसी गुरु के आदेशानुसार जब वह जीवन को प्रभु-प्राप्ति में प्रवाहित कर देता है तब उसका नाम 'सलीक' होता है। सबसे पहले उसे सेवा की दीक्षा मिलती है। सेवा के द्वारा उसे प्रेम (इश्क) की प्राप्ति होती है। प्रेम के द्वारा उसे एकाग्रता की प्राप्ति होती है और संसार के सारे राग-मोह सदा के लिये जल जाते हैं। प्रेमाग्नि में राग-मोह आदि विषय जल जाते हैं और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब उसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश बल उठता है। ज्ञान के इस समुज्ज्वल प्रकाश में उसे प्रभु का साक्षात्कार होता है। यह प्रेम-मद की पूर्णावस्था है। इसके बाद साधक 'वस्ल' (मिलन) की ओर बढ़ता है। इसके आगे अब वह नहीं जाता। हाँ, मृत्युपर्यन्त वह ध्यान-धारणा के द्वारा इस आनन्द को स्थिर और स्थायी बनाता है और मृत्यु के समय 'फना' का आनन्द लूटता है—मृत्यु के समय सूफी अपने को सर्वात्मभाव से प्रभु में लय कर देते हैं।

जिस प्रकार हमारे यहाँ कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञान-काण्ड तथा सिद्धावस्था है उसी प्रकार सूफी साधक की चार अवस्थाएँ मानते हैं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत। उनका 'अनहलक' हमारे 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही बोधक है। सूफी साधना त्यागपक्ष और प्राप्तिपक्ष दोनों रूप में सर्वात्म-समर्पण को ही लक्ष्य करके चली है।

साधक को जीवन-पथ में चलने के लिये चार वस्तुओं की आवश्यकता है—सद्वचन, सत्कर्म, सदाचार और सद्विवेक। साधक एक क्षण के लिये भी यह न भूले कि जब सब कुछ लय हो जायगा तो केवल प्रभु ही रह जायगा—आदि में प्रभु ही था, आगे भी जब कुछ नहीं रहेगा एकमात्र प्रभु ही रह जायगा।

सब कुछ उसी 'एक' से निकला है और उसीमें लय हो जायगा। संसार में हमारा रहना बीच की स्थिति में रहना है और इसीलिये इसे प्रभुमय बनाये रखने की आवश्यकता है। प्रभु तो हमें सदा अपनी ओर आकृष्ट कर ही रहा है। परन्तु हम इस आकर्षण से हटकर जगत के पदार्थों की खोज में लगे रहते हैं। परन्तु प्रभु हमें अपनी ओर आकृष्ट किये बिना रह नहीं सकते ; वे हमें जगत् के प्रपञ्चों से छुड़ाकर अपनी ओर खींचते हैं। प्रभु की ओर से हमें जो खींचने की प्रक्रिया है उसे सूफी आकर्षण (इंजिजाब) कहते हैं और मनुष्य का जो प्रभु की ओर बढ़ना है उसे वे आकांक्षा अथवा प्रेम कहते हैं। प्रभु की प्रीति के लिये हमारी आकांक्षा जितनी बढ़ती है उतना ही संसार हमसे दूर हटता जाता है। साधक इस दशा में प्रभु का प्रियपात्र 'किब्ला' बन जाता है।

प्रभु के चरणों में सर्वात्म-समर्पण करके उसमें लय हो जाना ही सूफी साधना की चरम परिणति है। इस अवस्था का वर्णन जलालुद्दीन रूमी अपनी पुस्तक 'मसनवी' में इस प्रकार करता है—

प्रियतम के द्वार को बाहर से किसीने खटखटाया।
भीतर से आवाज आयी—कौन है ?
मैं हूँ—उत्तर था।
भीतर से आवाज आयी—'इस घर में 'मैं' और 'तुम'—'दो' नहीं रह सकते। द्वार बंद ही रहे।
प्रेमी निराश होकर लौट गया। वर्ष भर उसने जङ्गल में एकान्त में रहकर तपस्या की, उपवास किया, प्रार्थनाएँ कीं। वर्ष समाप्त होने पर प्रेमी पुनः लौटा और प्रियतम के द्वार खटखटाये।
'कौन है' ? भीतर से आवाज आयी।
'तू है'—प्रेमी का उत्तर था

द्वार खुले, प्रेमी और प्रियतम मिले, मिलकर एक हो गये।

सर्वप्रथम सूफी मत का प्रकट आविर्भाव तो ईसवी सन् ८०० के पूर्व पैलेस्टाइन में अबुहासिम द्वारा हुआ, परन्तु इनके पहले ही रबिया हो चुकी थी और उस समय से ही प्रच्छन्न रूप से सूफी भावना की धारा अखण्ड रूप से चली आ रही है। कुरान के ऐसे प्रसङ्ग, जिनमें सर्वव्यापी प्रेम-स्वरूप परम आत्मीय प्रभु के शील और सौन्दर्य का वर्णन है, सूफी मत का आधार हुए और आगे चलकर तो इसकी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा भी हुई। पहले-पहल अबुहासिम ने ही पैलेस्टाइन के पास रमले में सूफी साधना-मंदिर की स्थापना की। यहीं से सूफी-साधना की स्वतन्त्र धारा चली, जो आज तक चली आ रही है। प्रेम के द्वारा परम प्रेमास्पद में सर्वात्म-समर्पण की साधना-प्रणाली मानव हृदय को अनादिकाल से आकृष्ट करती आयी है और जब तक मनुष्य के पास हृदय है वह प्रेममार्ग में आकृष्ट होगा ही। अस्तु।

सूफियों में एक-से-एक संत-महात्मा हुए हैं और उनकी संख्या भी अपरिमित है। त्यागपक्ष और ग्रहणपक्ष—त्यागपक्ष में जगत् की एक-एक वस्तु का, एक-एक परिग्रह का पवित्र त्याग और ग्रहणपक्ष में प्रभु-प्राप्ति के लिये समस्त सद्गुणों का ग्रहण—यही इन संतों के उपदेशों का सार है। कठोर तपस्या, दीर्घ उपवास और प्रार्थना यही इनका साधन है। नाम-स्मरण में सूफी इतने तल्लीन हो जाते हैं कि इन्हें अपनी देह की सुध-बुध नहीं रहती और प्रेम में निरन्तर अश्रु-प्रवाह चलता ही रहता है। प्रेम ही इनकी साधना का प्राण है। रबिया, हल्लाज मंसूर, बयाजीद बस्तामी, जलालुद्दीन रूमी, हाफिज और सादी आदि कई विश्व-विश्रुत महात्मा सूफियों में हुए हैं। आज भी यह देखा जाता है कि जो सूफी हैं वे धर्म की बातों में बड़े ही उदार और

हृदय के बड़े ही प्रेमी होते हैं—उनके हृदय में सब धर्मों के लिये समान आदर का भाव है। वे प्रभु का चाहे जो भी नाम हो—उसका बहुत आदर करते हैं और सभी धर्म-ग्रंथों को श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखते हैं। सूफी के लिये यह समस्त विश्व प्रभु के प्रेम की फुलवाड़ी है जहाँ नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूल खिले हुए हैं। सूफी संतों में रबिया और मंसूर को कौन नहीं जानता? रबिया के जीवन के संबंध में साधना संबंधी कुछ घटनाओं की चर्चा यहाँ बहुत संक्षेप में की जा रही है।

बसरा के एक बड़े ही गरीब परिवार में रबिया का जन्म हुआ। उससे बड़ी तीन बहिनें थीं। अकाल में माता-पिता की मृत्यु हो गयी। किसी ने इसे लेकर एक सम्पन्न व्यक्ति के हाथ बेंच दिया। वह धनी व्यक्ति इतना क्रूर और नृशंस था कि कुमारी रबिया से बुरी तरह काम लेता और उसे मारता-पीटता भी। एक अँधेरी रात को रबिया वहाँ से भाग निकली। रात अँधेरी, रास्ता बीहड़। ठोकर खाकर गिर पड़ी और उसका दाहिना हाथ टूट गया। उस दारुण दशा में रबिया ने धरती पर मस्तक टेककर प्रार्थना की—'हे प्रभु! मुझे अपनी इस दुर्दशा का शोक नहीं है। मैं तुझे भूलूँ नहीं और तू मुझपर प्रसन्न रहे—बस यही प्रार्थना है।'

कुरान पढ़ने और एकान्त में प्रार्थना करने का रबिया को व्यसन-सा था। आधी रात को जब सभी सो जाते रबिया प्रभु की प्रार्थना करती। एक रात वह ऐसी ही प्रार्थना कर रही थी—'हे प्रभु तेरी ही सेवा में मेरा दिन-रात बीते, ऐसी मेरी इच्छा है; पर मैं क्या करूँ? तूने मुझे पराधीन दासी बनाया है, इसलिये मैं सारा समय तेरी उपासना में नहीं दे सकती। हे प्रभु! इसलिये मुझे क्षमा कर।'

सेठ, जिसके यहाँ वह थी, बाहर से यह सुन रहा था। अपनी कठोरता पर उसे बड़ी ग्लानि हुई। रबिया के चरणों में गिरकर उसने क्षमा माँगी और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कहा—'आप मेरे घर में रहेंगी तो मैं आपकी सेवा करूँगा, आप अन्यत्र रहना चाहें तो आपकी इच्छा।' मालिक के मन में प्रभु की प्रेरणा समझकर रबिया उसे नमस्कार कर विदा हो गयी। वहाँ से जाकर उसने कठोर तपश्चर्या में जीवन बिताया।

महात्मा हुसेन उन दिनों में बसरे में ही थे। रबिया उनके सत्सङ्ग में जाया करती और धर्म-चर्चा में भाग लेती। एक बार निर्जन वन में जाकर रबिया ने योगाभ्यास किया और आयु का शेषांश मक्का में ही बिताया। इब्राहम आदम से मक्का में ही उसका सत्सङ्ग हुआ था। जीवनपर्यन्त कौमार्यव्रत का पालन कर भजन में जीवन बितानेवाली देवियाँ इस जगत् में गिनती की ही हुई हैं।

एक दिन हुसेन ने रबिया से पूछा—तुम्हारा मन विवाह करने का है?

रबिया ने उत्तर दिया—विवाह तो होता है शरीर का, मेरे पास शरीर है ही कहाँ? यह शरीर तो मैं ईश्वर को अर्पित कर चुकी हूँ, कहो, अब कौन-से शरीर का विवाह करूँ?

एक बार एक धनिक ने रबिया को फटे-पुराने कपड़े पहिने देखकर कहा—'देवि! यदि आप सङ्केतमात्र कर दें तो आपकी दरिद्रता दूर हो जाय।'

रबिया ने उत्तर दिया—'तुम भूल करते हो। सांसारिक दरिद्रता दूर करने के लिये किसीसे भीख क्यों माँगू? इस संसार में उस परमात्मा का राज्य फैला हुआ है—उसे छोड़कर दूसरे से क्यों माँगू? जो कुछ लेना होगा उसीके हाथ से लूँगी।'

एक बार रबिया बीमार हो गयी। हाल पूछने के लिये अब्दुल उमर और सुफियान आये और रबिया से कहा कि स्वास्थ्य के लिये तुम प्रभु से प्रार्थना करो। रबिया बोली—यह क्या कह रहे हो ? मेरे इस रोग में क्या उस प्रभु का हाथ नहीं है ? मैं तो उसकी दासी हूँ। दासी की अपनी इच्छा कैसी ? मेरी जो इच्छा प्रभु की इच्छा से विरुद्ध हो वह सर्वथा त्याज्य है।

रबिया की प्रार्थना थी—'हे प्रभु ! यदि मैं नरक के डर से ही तेरी पूजा करती होऊँ तो मुझे उस नरक की आग में जला डालना। और यदि स्वर्ग के लोभ से मैं तेरी सेवा करती होऊँ तो वह मेरे लिये हराम हो। किन्तु यदि मैं तेरी प्राप्ति के लिये ही तेरा पूजन करती होऊँ तो आप अपने अपार सुन्दर स्वरूप से मुझे वञ्चित न रखना।'

जायसी की प्रेमानुभूति

करि सिंगार ता पाँ का जाऊँ।
ओही देखउँ ठाँवहि ठाऊँ॥

जायसी एक बहुत ही ऊँचे महात्मा हो गये हैं। वे सूफी फकीर थे। एक कम्बल लपेटे रहते थे। जो कुछ किसीने दे दिया, उसीमें मस्त रहते थे। कोढ़ी के रूप में भगवान् ने जायसी को दर्शन दिया। इस दर्शन की कहानी बड़ी विचित्र है। जायसी कभी अकेले भिक्षान्न भी नहीं खाते थे। जो कुछ मिलता था, उसमें से दो-एक साधु फकीरों को भोजन करा लेते थे, फिर जो कुछ बचता था, उसे ही प्रसाद-रूप में ग्रहण करते थे। एक बार एक जंगल में नदी-तट पर भिक्षा का अन्न लेकर जायसी बैठे थे। वे किसी की बाट जोह रहे थे। इतने में एक कोढ़ी सामने से गुजरा। जायसी ने उसे पुकारा। पास आने पर जायसी ने देखा कि इसके शरीर से रक्त-पीब बह रहा है और मक्खियाँ भन्ना रही हैं। परन्तु,

जायसी के मन में तनिक भी घृणा नहीं हुई। उन्होंने भिक्षा के अन्न को 'अतिथि' के सामने रख दिया। रक्त और पीव से आप्लावित शेषांश के पीने की बारी आयी तब जायसी ने हठपूर्वक अपने आप ही पीना चाहा। ज्योंही उन्होंने उसको अपने मुँह से लगाया, उक्त कोढ़ी आँखों से ओझल हो गया। विस्मय से भरे हुए जायसी बोल उठे—

बुंदहिं सिंधु समान, यह अचरज कासों कहौं।
जो हेरा सो हेरान, 'मुहमद' आपे आप महँ॥

परमात्मा के प्रेम को प्राप्त कर जायसी बस मस्त होकर जंगलों में घूमा करते थे। वे प्रेम की पीर में बेसुध रहते थे। उस समय की उनकी स्थिति का पता नीचे की कुछ पंक्तियों में मिल सकता है—

सुख भा सोच एक दुख मानूँ। वहि बिन जीवन मरन कै जानू॥
नैन रूप सों गयेउ समाई। रहा पूर भर हिरदय छाई॥
जहँवै देखौं तहँवै सोई। और न आव दिस्टतर कोई॥
आपन देख देख मन राखौं। दूसर नाँव सो कासों भाखौं॥

प्राणनाथ के बिना यह जीवन मृत्यु के समान है। मेरी आँखों में वह परमात्मज्योति अपनी अमित छवि के साथ समा गयी और हृदय को उसने छा लिया। अब जिधर भी दृष्टि जाती है, वही वह दीखता है—मेरी दृष्टि की सीमा में और कोई आता ही नहीं। 'उस' में अपना 'सर्वस्व' देख-देखकर मन में ही जुगाये रखता हूँ; फिर दूसरे का नाम क्यों लूँ, दूसरे की चर्चा क्यों करूँ?

जायसी बड़े ही कुरूप थे। उनकी एक आँख शीतला के कारण चली गयी थी। एक बार अमेठी के राजा ने जायसी का नाम सुनकर उन्हें अपने राज्य में बुलवाया। जायसी की कुरूपता देखकर वे हँस पड़े। इसपर जायसी ने कहा—

मटियहिं हँससि कि कोंहरहि ?

अर्थात् आप मेरी इसी मिट्टी (शरीर) को हँस रहे हैं या इनके बनानेवाले कुम्हार (परमात्मा) को ? राजा लज्जित हो गये।

जायसी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक पहुँचे हुए सूफी फकीर थे। सूफी मत में परमात्मा की प्रियतम के रूप में उपासना की जाती है। सूफी साधना और हमारी 'मधुर साधना' में बहुत अधिक समानता है। जायसी के लिये संसार की सब वस्तुएँ, संसार के सारे व्यापार, परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध चरितार्थ कर रहे थे—यह समस्त प्रकृति उस 'परमपुरुष' से मिलने के लिये अहर्निश उत्सुक है, व्याकुल है। जायसी ने अपने हृदय के भीतर उस परमपुरुष की अलौकिक रूप-आभा को देखा जिसकी ज्योति से अनन्त ब्रह्माण्ड जगमग कर रहे हैं—

देख्यों परमहंस परिछाहीं। नयन जोति सो बिछुरत नाहीं॥

मैंने परमहंस (परमात्मा) की अमर शीतल छाया को स्पर्श किया। अब वह ज्योति एक क्षण के लिये भी आँखों से बिछुड़ती नहीं। संसार में जो कुछ भी 'सुन्दर' प्रतीत होता है वह परमात्मा की सुन्दरता की छायामात्र है—'तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति।'

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

सरोवर में चारों ओर जो कमल दिखायी पड़ रहे थे, वे उस (परमपुरुष) के नेत्रों के प्रतिबिम्ब थे; जल जो इतना स्वच्छ दीख पड़ता था वह 'उस' के स्वच्छ निर्मल शरीर के प्रतिबिम्ब के कारण; उसके हास की शुभ्र कान्ति की छाया वे हंस थे जो इधर-उधर दिखायी पड़ते थे और उस सरोवर में जो हीरे थे, वे उसके दाँतों की उज्ज्वल दीप्ति से उत्पन्न हो गये थे। इतना ही नहीं—

रवि ससि नखत दिपहिँ ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, रत्न, पदार्थ, माणिक्य, मोती सभी कुछ उसी 'एक' की ज्योति के कारण ही प्रकाशमान हैं।

प्राणप्रिय हृदय में ही बसता है; परन्तु उसके दर्शन नहीं हो पाते। यह दुःख किससे रोया जाय ?—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई।

विरह की जो अधीर दशा है, वह बहुत ही करुण और दारुण है—

बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ। चातक भइउँ कहत पिउ पीऊ॥
जरिउँ बिरह जस दीपक बाती। पथ जोवत भइँ सीप सेवाती॥
भइउँ बिरह दही कोइल कारी। डारि-डारि जिमि कूकि पुकारी॥

कौन सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता जासु।
वह दुःख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु॥

जायसी उस दिन की तीव्र प्रतीक्षा में है जब प्राणाधार आकर स्वयं उसे गले लगा लेगा और वह उससे दो-दो बातें कर सकेगा, अपने हृदय की व्यथा को सुना सकेगा। 'उस' के मिलने पर तो—

तौ लौं रहौं झुरानी, जौं लौ आव सो कंत।
एहि फूलि एहि सेंदुर, होइ सो उठै बसंत॥

इसी फूल (शरीर) से जिसे तुम इतना कुम्हलाया हुआ कहते हो, और इसी सिन्दूर की फीकी रेख से जो रूखे सिर में दिखायी पड़ती है फिर वसन्त का विकास और उत्सव हो सकता है यदि 'पति' आ जाय।

मङ्गलमिलन के मन्दिर में प्रवेश कर जब जायसी अपने हृदय-धन से मिलते हैं, तो एक अपूर्व आनन्द की विस्मृति में

अपने को खो देते हैं। अपनी स्थिति का जब हलका-सा ज्ञान हो जाता है, तो एक अपूर्व असमंजस का अनुभव करते हैं—

रहौं लजाइ तो पिउ चलै, कहौं तो कह मोहि ढीट।

मिलन की इस मधुर मङ्गलवेला में यदि मैं लज्जित हो कर घूँघट सरका लूँ तो पिय रूठकर चला जाय और मैं हाथ मलती रह जाऊँ, और यदि जरा घूँघट को उठाकर उसके चरणों को पकड़ लूँ तो मुझे वह ढीठ ही समझेगा। असमंजस की यह मधुर अनुभूति कितनी कोमल, कितनी जादूभरी है; जिसका थोड़ा-बहुत अनुभव प्रत्येक भक्त को होता होगा। वास्तव में 'उसे' रोकते भी नहीं बनता, न छोड़ते ही बनता है।

नववधू को 'पति' के घर जाने में पहले तो बड़ी झिझक, सङ्कोच और लज्जा होती है, परन्तु, जब एक बार घूँघट हटकर 'पति' का दरस-परस हो जाता है, तो समग्र हृदय वहीं उसके चरणों में आप ही आप निछावर हो जाता है और फिर एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाता है। जब तक प्राणनाथ से 'परिचय' नहीं, तभी तक मायके से प्रेम और ससुराल से विराग है। इस मायके में रहना भी कै दिन है?

छाँड़िउ नैहर, चलिउँ बिछोई। एहि रे दिवस कहँ हौं तब रोई॥
छाँड़िउ आपन सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउँ अकेली॥
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपनेकर लेखा॥
मिलहु सखी हम तहँवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं॥
हम तुम मिलि एकै सँग खेला। अंत बिछोह आनि जिउ मेला॥

इस संसार से जो हमारा अनुराग और आसक्ति है, वह ठीक वैसा ही है जैसा कन्याओं का मायके से। परन्तु हमारा सच्चा और अपना देश तो 'साजन का घर' ही है। जब हम सच्चे रूप में

अपने 'हृदयधन' को पहचान लेंगे, तो हमारी इस संसार में जो आसक्ति है वह तो मिट ही जायगी, साथ ही हमें 'उस' के सिवा कुछ अच्छा लगेगा ही नहीं। यह भाव कबीर और दादू तथा अन्यान्य निर्गुनिये संतों में बहुत अधिक आया है।

यहाँ, इस पृथ्वी पर हमारा जितने दिन का रहना है, वह 'प्रियतम' के विरह में ही बीत रहा है। विरह का यह ताप बड़ा ही मधुर होता है। इसे जो 'दु:ख' नाम से पुकारते हैं, वे विरह के रस से परिचित नहीं हैं। विरह का ताप मधुर इसलिये है कि उसमें प्रीतम की स्मृति है, उसमें स्वयं 'साजन' की मूर्ति विलसती रहती है। जायसी ने इस माधुर्य के रहस्य को बड़े ही अनूठे ढंग से खोला है—

लागिउँ जरै जरै जस भारू। फिरि फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥

भाड़ की तपती बालू के बीच पड़ा हुआ अनाज का दाना जैसे बार-बार भूने जाने पर उछल-उछल पड़ता है पर उस बालू से बाहर नहीं जाना चाहता, उसी प्रकार इस प्रेमजन्य संताप के अतिरेक से मेरा जी हट-हटकर भी उस संताप के सहने की बुरी लत के कारण उसी की ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रिय का प्यारा प्राण ही विरह ताप से विह्वल हो जाता है; फिर भी वह बार-बार उसीका ध्यान करता रहता है। प्रेमदशा चाहे घोर यन्त्रणामय हो जाय; पर हृदय उस दशा से अलग होना नहीं चाहता। विरह की इस दारुण यन्त्रणा में—

हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भई सब ताँति।
रोवँ रोवँ तै धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

जो अणु-अणु में व्याप्त है, जो हर समय हमें भीतर और बाहर दोनों ओर से देख रहा है, उससे मिलने के लिये क्या शृङ्गार किया जाय? फिर भी भक्त का मन तो मानता नहीं और

इसी हेतु 'उस' के निमन्त्रण पर 'तन मन जोबन साजिकै, देइ चली लेइ भेंट'। सम्मिलन की उत्कण्ठा या अभिलाषा इतनी तीव्र है कि अपने शरीर, मन और यौवन को सजाकर भेंट में देने के लिये भक्त चला। लेकिन तुरन्त ही अपनी बाल-बुद्धि पर दृष्टि जाती है और वह सोचता है—

करि सिंगार ता पहँ का जाऊँ। ओही देखहुँ ठावहि ठाऊँ॥
जौ पिउ महँ तौ उहै पियारा। तन मनसौं नहिं होहि नियारा॥
नैन माँह है उहै समाना। देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना॥

शृङ्गार करके उसके पास क्या जाऊँ? उसे ही तो सर्वत्र देख रहा हूँ। प्रिय तो प्राणों में बसा हुआ है। वह शरीर और मन से भिन्न हो भी कैसे? आँखों में वही समाया हुआ है, जहाँ दृष्टि जाती है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ दीखता ही नहीं। उसके बाणों से समस्त संसार बिंधा हुआ है। कोई स्थान उससे खाली नहीं है।

उन बानन्ह अस को जो न मरा।
बेधि रहा सगरो संसारा॥

सूफ़ी मत में ब्रह्म की भावना अनन्त सौन्दर्य और अनन्त गुणों से सम्पन्न परम प्रियतम के रूप में करते हैं। सर्वात्म-समर्पण के अनन्तर भक्त का भगवान् में लय हो जाता है, वह सर्वथा तद्रूप, तदाकार, एक और अभिन्न हो जाता है। इस तथ्य की अवस्था का सूफ़ी धर्म में बहुत विस्तार से वर्णन मिलता है—

'फ़ना'—वह स्थिति है जिसमें साधक अपनी अलग सत्ता की प्रतीति से परे हो जाता है। इसके बाद 'फ़क़द' की अवस्था है जिसमें अहंभाव का सर्वथा नाश हो जाता है। 'सुक्र' अथवा प्रेममद की स्थिति वह है जिसमें साधक अपनी निजी सत्ता को खोकर सर्वदा और सर्वत्र अपने 'प्रीतम' को ही देखता है और

उसी अमर दिव्य प्रेम में माता-माता फिरता है। यह तो त्याग-पक्ष की साधना-प्रणाली है। प्राप्तिपक्ष से इसी बात को दूसरे ढंग से व्यक्त किया जाता है—'बक़ा'—वह स्थिति है जिसमें साधक परमात्मा में ही अखण्ड विश्वास और श्रद्धा रखते हुए उसी 'एक' में निवास करने लगता है। इसके बाद उसे परमात्मा की प्राप्ति होती है जिसे सूफ़ी लोग 'वज्द' कहते हैं और अन्त में है 'शह्व' अर्थात् पूर्ण शान्ति।

प्रेम का यह पथ जितना ही सरल प्रतीत होता है वास्तव में वह उतना ही कठिन है। यह तो सिर का सौदा है। यह पथ तो 'सीस उतारै भुइँ धरै, तापर राखै पाँव' का है, इसमें 'मैं' और 'हरि' एक साथ नहीं रह सकते। हरि को पाने के लिये 'मैं' का लोप करना ही होगा।

आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥

अपने को खोने पर ही पिय मिलेंगे। यदि उस प्राणाधार को ही खो बैठें, तो सब कुछ उसीके साथ गया! फिर मन में समझ-बूझकर क्यों न अपने को खोकर हरि को पा लें? परन्तु, इस प्राप्ति के लिये मन और तन को दर्पण की भाँति निर्मल कर लेना पड़ेगा। जब हमारा मन दर्पण के समान स्वच्छ हो जायगा, तो साईं की छबि उसमें आप ही आप उतर आयगी।

तन दरपन कहँ साजु, दरसन देखा जो चहै।
मन सों लीजिय माँजि, 'मुहमद' निरमल होइ दिया॥

काम, क्रोध, तृष्णा, मद और माया को जायसी ने दर्पण की मैल बतलाया है। इनके हट जाने पर अन्तस्तल ऐसा निर्मल हो जायगा कि उसमें 'साजन' स्वयं आ विराजेंगे।

कमी तो अपनी ही ओर है। 'प्राणनाथ' को देखना तो हमें ही स्वीकार नहीं है। यदि सच्ची लगन हो तो एक क्षण भी उसके बिना रहना दूभर हो जाय। 'वह' तो स्वयं मिलने के लिये राह रोके खड़ा है। हम बार-बार उसके अपार प्रेम और अमित आकर्षण को ठुकराकर उसकी ओर पीठ फेर लेते हैं। वह बार-बार प्रतिपल हमें अपने आलिङ्गनपाश में बाँध लेने के लिये उत्सुक है; परन्तु हम ही दुनिया को छाती से चिपकाये हुए हैं और घूँघट के पट को हटाना नहीं चाहते। उससे मिलने, उसे स्वच्छ देखने की उत्कट चाह तो हमारे हृदय में पहले होनी चाहिये; उसे अपनाने में क्या विलम्ब लगेगा? माया के घूँघट को हटाकर और हृदय की ज्ञान-रूपी आँखें खोलकर देखने पर तो 'वह' यहीं और अभी मिल जाय। क्योंकि—

> दूध माँझ जस घीव है, समुद माँझ जस मोति।
> नैन मींजि जो देखहु, चमकि उठै तस जोति॥

दूध में जैसे घी है और समुद्र में जैसे मोती है, उसी प्रकार आँखों को ठीक से खोलकर देखा जाय तो प्राणाधार हरि की ज्योति झलक उठे!

अखरावट : जायसी का सिद्धांत-ग्रंथ

साधना और स्वानुभूति के सहारे जीवन के अंतःपुर में प्रवेश कर हमारे अमर कवियों ने अमर जीवन की अमर रागिनी छेड़ी है। एक ही प्रच्छन्न प्रवाह समस्त चराचर के हृदयदेश को रस से सराबोर कर रहा है। इस विविध-रस विश्व में एक ही रस है, और उसी एक रस को छककर पी लेने पर संसार का सारा वैषम्य, सारा विरोध अस्तित्व-रहित हो जाता है। सर्वात्मभाव की उस उच्च मनोभूमि से देखने पर अखिल सृष्टि का बस एक ही रूप रह जाता है। वहाँ एक और अनेक का भेद नहीं रहता। वहाँ अहम् का लय हो जाता है। सारा विश्व कवि के स्वर में अपना स्वर मिलाकर अपनी वेदना एवं उल्लास को प्रकट करता है। ऐसे ही अमर संगीत की सृष्टि आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने क्रौंच-मिथुन में से एक को व्याधे के बाण से आहत देखकर की थी और उनकी व्यथा वाणी के सहज प्रवाह में फूट पड़ी थी—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

वाणी का यही प्रयास-हीन प्रवाह अमर काव्य का अनंत स्रोत है। इसी रस को तुलसी ने, सूर ने, जायसी ने, मीरा और कबीर ने, शेक्सपियर और शेली ने, कालिदास और भवभूति ने, गेटे और होमर ने पिया और संतों ने आत्मानुभव के शीतल, सुखद एवं मधुर स्पर्श में आनंद-विह्वल होकर गाया था—

घूँघट का पट खोल रे तोहि 'राम' मिलैंगे।

इसी 'राम' की खोज में अपने अंतः का समुद्र मथकर संतों ने कुछ 'मोती' खोज निकाले हैं। इन्हीं मोतियों में अखरावट, विनयपत्रिका, सूरसागर, कबीर की साखियाँ तथा प्रेम-दीवानी मीरा के दर्द-भरे गीत हैं। इन कवियों की एक-एक लय में मानव हृदय की अमर लालसाओं की सनातन अभिव्यक्ति है। यहाँ थका हुआ संसार चिरंतन शांति एवं अनंत विश्राम पाता है। यहाँ जीवन और मृत्यु का द्वैत मिटकर, बस, एक ही वस्तु रह जाती है—वह है अमर जीवन का अनंत संगीत।

अस्तु, इन संत-कवियों में, जिन्होंने जीवन का वास्तविक रहस्य भली-भाँति समझा है, जो संसार की गुत्थियों को सुलझा सके तथा जिन्होंने पर्दा हटाकर भीतर 'झाँकी' पायी है, मलिक मुहम्मद जायसी का एक बहुत गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान है। जायसी के तीन ग्रंथ मिलते हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। पद्मावत में रानी पद्मिनी एवं राजा रतनसेन के प्रणय एवं परिणय के रूप में आत्मा और परमात्मा के बिछोह की मधुर कहानी है। जायसी ने बड़ी मधुर भाषा में प्रेम की यह अनमोल कहानी कही है और हीरामन तोता, जिसका वर्णन प्रायः

प्रत्येक हिंदू-घर में सुना जाता है, इस काव्य-ग्रंथ का प्रधान सूत्र-धार है। जायसी मुसलमान थे, परंतु उन्होंने हिंदू और मुसलमान के बीच का जो झूठा आवरण एवं व्यर्थ संकीर्णता है, उसे हटा कर हृदय-देश के सुन्दर संगीत को बहुत ही भावपूर्ण शब्दों में प्रकट किया है और लोक-सौंदर्य में परम माधुरी की प्रतिष्ठा कर अणु-अणु में ओतप्रोत अपने प्रेम-देव का साक्षात्कार किया है।

'अखरावट' जायसी का सिद्धान्त-ग्रंथ है, जिसमें सूफी सिद्धांत पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। यह ग्रंथ हिजरी सन् ९४७ अर्थात् संवत् १५९७ के लगभग लिखा गया था। उस समय शेरशाह का शासन था। जायसी अवध के रहनेवाले थे और अवधी भाषा में ही इन्होंने अपने ग्रंथ लिखे हैं। दोहा, चौपाई एवं सोरठे के ढंग पर काव्य-ग्रंथ लिखने की प्रथा का जन्म जायसी ने ही दिया। गो० तुलसीदास ने तो इनके पीछे रामायण की रचना की। विशुद्ध कवित्व में जहाँ 'पर-उपदेश' का सर्वथा अभाव है तथा 'स्वांत: सुखाय' की मर्यादा पूर्णत: निभ सकी है, जायसी तुलसीदास से आगे बढ़ गये हैं। हमारा प्रयोजन यहाँ जायसी और तुलसी की तुलना करना नहीं, प्रत्युत यह दिखाना है कि चौपाई, दोहा, सोरठा में हृदय के मधुर गीत सुनानेवाले कवियों में जायसी का सर्वोच्च स्थान है। इनकी भाषा उतनी परिमार्जित नहीं है, जितनी तुलसी की; परंतु यह समझ रखना चाहिये कि रामायण का प्रणयन अखरावट से लगभग सौ साल पीछे हुआ था। जायसी में भाषा अपना स्वाभाविक माधुर्य लिये हुए अभिव्यक्ति का प्रयत्न करती दीखती है।

'अखरावट' में कुल ५३ दोहे हैं। एक-एक दोहे पर सात चौपाई और एक सोरठा है, जिसका क्रम है—दोहा, सोरठा, चौपाई। सोरठे के बादवाली पहली चौपाई देवनागरी-वर्णमाला के

एक-एक अक्षर लेकर लिखी गयी है। स्वरों में केवल अ, आ, ए, ऐ, और उ लिया गया है और व्यंजनों में क से ह तक सभी से प्रारंभ किया गया है। ङ, ण, न, ञ, को 'न' ही समझा गया है। व्यंजनों के साथ विशेषता यह है कि सभी के साथ आकार जोड़ दिया गया है—जैसे का, खा, गा, घा, इत्यादि।

जायसी के कवित्वपूर्ण, संवेदनशील हृदय की झाँकी देखनी हो, तो उनका 'पद्मावत' ग्रंथ ही देखना चाहिये। 'अखरावट' में तो उनके दार्शनिक सिद्धांत एवं आत्मानुभूति की अलौकिक झलक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जायसी सूफी कवि थे और ऊँचे रहस्यवादी थे। सूफी मत हमारे भक्तिमार्ग के माधुर्य भाव से बहुत मिलता-जुलता है; उसमें परमात्मा को अपने पति के रूप में भावना कर और अखिल चराचर में 'उसी' की मधुर छवि की बाँकी झलक देखते हुए, उससे मिलने की तीव्र उत्सुकता में जीवन को पूजा के फूल की तरह समर्पित कर दिया जाता है।

संसार का मूल कोई अज्ञेय और अप्रमेय रहस्य है, जिसे सभी मत और सिद्धांत प्रकट करना चाहते हैं; परंतु करने में सर्वथा असमर्थ हैं। कारण, आध्यात्मिक स्वानुभूति स्वसंवेद्य एवं अनिर्वचनीय है। वचनों में उसकी पूरी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। तर्क एवं विवाद तो वहाँ जा ही नहीं सकते, जिसे उपनिषदों ने मन, वाणी से अलभ्य कहा—

> यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
> आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

फिर कहा है—

> अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
> तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
>
> —ईशोपनिषद्

'अखरावट' में प्रायः सभी सिद्धांतों के सार तत्व मिलते हैं। जायसी ने अपने उदार एवं विशाल हृदय की खिड़की को खोल कर सभी दिशाओं से प्रकाश आने का रास्ता बना दिया था। जायसी का मूल सिद्धांत यह था कि जगत की सभी वस्तुएँ, संसार के सारे व्यापार, उस परमसत्ता के साथ अपना अखंड संबंध चरितार्थ करते हैं, जिसके इशारे पर अखिल ब्रह्मांड का संचालन हो रहा है। जो कुछ हम देख रहे हैं, वह हमारे प्रियतम का संकेत ला रहा है। यह सारा संसार उसी एक प्राणनाथ की जगमग ज्योति से झिलमिल कर रहा है, एक-एक अणु में उसी की छवि छलकी पड़ती है। रहस्यवादी अपने अंतःकरण में उस परमसत्ता की अखंड ज्योति की अनुभूति करता है। 'संकेत'-भरी दुनिया में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसी में 'उस' का 'आमंत्रण' हमें 'उस पार' बुला रहा है और वह 'परदे तरकी सुंदरी' हमें अपने विराट अभिनय में सम्मिलित होने के लिये प्रतिपल आकर्षित कर रही है। उस परम प्रभु की छवि कण-कण में व्याप्त है, वह परोक्ष शक्ति हमें अपने में लय करने के लिये उतनी ही विह्वल है जितनी हम 'उस' में मिलने के लिये। आवश्यकता है हमें अपने को मिटाने की, अपने अहम् के लय करने की। इस साँकरी गली में दो नहीं समा सकते। सूफी बराबर 'खुदा के नूर को हुस्नेबुतों के परदे में' देखते रहे।

देखेउँ परमहंस परछाहीं, नयन जोति सो बिछुरत नाहीं॥

इस 'ऊँची गैल, राह रपटीली' वाले देश में जाने के लिये 'सर्वस्व-समर्पण' का ही एकमात्र संबल है। प्रकृति के बीच दिखायी पड़नेवाली सारी ज्योति उसी की है।

रवि, ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।

वह ज्योति सूर्य, चंद्रमा आदि से परे है। उपनिषदों में जिसे कहा है कि—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः? तमेव भान्तमनुभाति तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति।'

अर्थात् उसी 'एक' की ज्योति से सूर्य, चंद्र, तारे, विद्युत् सभी ज्योतिमान् हो रहे हैं। उस परम पुरुष के बाणों से सारी सृष्टि बिंधी हुई है। आकाश में जो इतने नक्षत्र दीख रहे हैं, वे सब उस परम पुरुष के बान के निशाने हैं।

उन्ह बानन्ह अस को जो न मरा, बेधि रहा सगरौ संसरा।
गगन नखत जो जाहि न गने, वे सब बान ओहि के हने।

'अखरावट' के प्रारंभ में जो सृष्टि-विधान का वर्णन है, वह परंपरामुक्त (conventional) है और वही आदम हौआ का बयान है, जो गेहूँ के फल खाने के अपराध में स्वर्ग से पतित हो गया। इसमें ईश्वर की कल्पना वृक्ष के रूप में की गयी है, और जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है, इस सिद्धांत की पुष्टि बहुधा मिलती है। 'बुंदहि समुद समान', या 'रूख समान बीज मँह' से यही प्रकट होता है कि जायसी की भावना यह थी कि बुंद में ही समुद्र समाया हुआ है। सारा संसार-वृक्ष बीज रूपी ब्रह्म में ही अव्यक्तभाव से निहित रहता है।

परिणामवाद और विवर्त्तवाद की भी थोड़ी झलक जहाँ-तहाँ मिलती है—

सुन्न समुद चख माँहि, जल जैसी लहरैं उठहिं।
उठि-उठि मिटि-मिटि जाहिं, 'मुहमद' खोज न पाइए॥

इस नामरूपात्मक जगत् में एक ब्रह्म ही सत्य है और संसार—जैसे जल की लहरें हों, उसी में से निकलता और उसी में लय हो जाता है।

जिस प्रकार नदियाँ अपना-अपना नाम मिटाकर समुद्र में 'एक रूप' हो जाती हैं, उसी प्रकार संत लोग भी नाम रूप से परे दिव्य पुरुष की प्राप्ति करते हैं। इसी को वेद ने 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' तथा 'एकं रूपं बहुधा यो करोति' कहकर अनुभव से अपनी अंतरात्मा के भीतर 'उस' के दर्शन की प्राप्ति से परम आनंद बतलाया है। वह परमतत्त्व इस विराट् सृष्टि में ओत-प्रोत है—

दूध माँझ जस घीउ है, समुद माँझ जस मोति।
नयन मींजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति॥

केवल आवश्यकता है नयन मींजकर देखने की। एक अँगरेज भावुक संत ने इसी बात को कितने सुंदर शब्दों में कहा है—

When he desires me and I him, I raise the veils between myself and him, I and he become one.

अर्थात् जब मैं उसे और वह मुझे देखना चाहता है, तो मैं परदा उठा देता हूँ; मैं और वह एक हो जाते हैं। पुनः सूफी महाकवि हल्लाज के शब्दों में—

Between me and thee loiters, an 'it is I' which torments me......Oh! take away of thy goodness, this, 'it is I' from between us. This veil separates me from thee, let the veil of ego be torn off, let us not stand away.

इस परदा (veil) का उठ जाना ही अपने भीतर के आनंद-सागर में प्रवेश करना है, जहाँ केवल सत्-चित्-आनंद है। यही चीरहरण की मधुर लीला है। जायसी और कबीर ने,

सभी संत कवियों ने 'अनहद-नाद' सुना और अंतः की ज्योति में अपने को मिलाया था। जायसी का कहना है कि स्वात्मानुभव के बिना इसमें कोई सहारा नहीं। खुद ही चलकर 'पिया की अटारी' के पास पहुँचना है। और यह तभी संभव है जब हम पूर्णतः अपने आप को लय कर दें, मिटा दें, खो दें।

आपुहि खोये पिउ मिलै, पिउ खोये सब जाय।
देखहु बुझि बिचारि मन, लेहु न हेरि हेराय॥

अपने को खोकर 'पिया' के दर्शन होते हैं, फिर क्यों नहीं अपने को 'हिरा' कर 'उन्हें' हेर लेते ?

यह रस तो गूँगे का गुड़ है। उसे स्वयं चख कर ही आनंद का सच्चा अनुभव हो सकता है। दूसरे के कहे या बताने पर तो उसका भला क्या ज्ञान होगा ? वह तो 'अंधे के हाथी' वाली बात होगी—

सुनि हस्ति कर नाउँ, अंधरन्ह टोवा धाइ कै।
जेहि टोवा जेहि ठाँव, 'मुहमद' सो तैसे कहा॥

वस्तुः सभी मत-सिद्धांत एक ही है और उसी 'एक' का ही प्रतिबिंब सर्वत्र व्याप्त है—

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सुरुज दिपै अकास, 'मुहमद' सब महँ देखिए॥

वह ज्योति नाम और रूप से परे अकलंक है। उस ब्रह्म-ज्योति पर माया का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। उसे तो—

पवन न उड़ै, न भीजै पानी, अगिनि जरै जस निरमल बानी।

ठीक यही भाव गीता में है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

उस परम शक्ति की अपरिमेयता स्वीकार करते हुए कवि ने कहा है—

> जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिंन कोइ।
> जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ॥
> ओहि जोति परछाँही, नवौ खंड उजियार।
> सुरुज चाँद के जोती, उदित अहै संसार॥

यह द्वैत ईश्वर और जीव का जो हम देख रहे हैं वह मिथ्या है, भ्रम है—

> दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसर गनै।
> तस भा दुइ एक साथ, 'मुहमद' एकै जानिए॥

'एकोऽहं बहुस्याम्'—ब्रह्म की जो पिपासा है, उसीके कारण इस सृष्टि का नाटक प्रारंभ हुआ—

> "अपने कौतुक लागि, उपजायनि बहु भाँति मैं।"

सभी रास्ते 'उधर' ही एक लक्ष्य की ओर लिये जा रहे हैं। उसे पाने के असंख्य मार्ग हैं—जितने आकाश में नक्षत्र हैं और शरीर में रोएँ।

> बिधिना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोवाँ जेते।
> जेइ हेरा तेइ तँहवै पावा, भा संतोष समुझि मन गावा॥

इसे मैथिलीशरण ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> देखा जहाँ आप अपने को, तुम्हीं दिखायी दिये वहाँ!

जिस प्रकार बछड़ा दूध पीने के लिये व्याकुल होता है, उसी प्रकार गाय भी दूध पिलाने के लिये; जिस प्रकार पति कठोर होते हुए भी अपनी पत्नी के प्रति कोमल होता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म की भी वेदना 'जीव' में अपने को प्रतिबिंबित करने को

है। ब्रह्म की यह 'वासना' है कि जीव को अपने में मिला ले। 'वही' मानव-हृदय के भीतर व्यथा बनकर अपनी ओर हमें प्रेरित करता है; हमें अपना दर्पण बना कर अपने 'रूप' की 'छाया' देखना चाहता है—

सबै जगत दरपन के लेखा, आपुहि दरपन आपुहि देखा।

इस सारे जगत् रूपी दर्पण में उसी 'एक' का प्रतिबिंब दिखायी पड़ रहा है।

संसार में सबसे निकट और घना संबंध पति-पत्नी का होता है। 'दो' का 'एक' में घुलना उसे ही कहते हैं। पत्नी अपना सारा सुख अपने पति के चरणों में निछावर कर देती है। इसी भाव से प्रेरित होकर भगवान् का विराट-रूप देखकर अर्जुन ने काँपते हुए स्वर में कहा था। 'भगवन्! विहार, भोजन एवं विश्राम करते समय मुझसे हास्य-विनोद में जो अपराध हुआ है, आपका जो असत्कार हो गया है, उसे क्षमा कर दें।'

किस प्रकार?—जैसे पिता पुत्र के अपराध को, मित्र, मित्र के अपराध को, (नहीं नहीं, अंत में आकर) जैसे पति पत्नी के अपराध को क्षमा कर देता है; "प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।" इसी 'माधुर्यभाव' में इसका पूर्ण परिपाक होता है। विरह एवं मिलन की सच्ची अनुभूति हृदय के अंतःप्रदेश में गूँजती रहती है और 'प्रीतम की सेज' तक जाने की तीव्र लालसा में मानव-हृदय की गोपनीय साधना सदा जाग्रत् रहती है। सारी सृष्टि 'प्राणवल्लभ' का संकेत लेकर बहुत ही मधुर भाव में दृष्टि-गोचर होती है।

अजब तेरा कानून देखा खुदाया।
जहाँ दिल दिया, फिर वहीं तुझको पाया॥

संक्षेप में हमने देख लिया कि जायसी 'आत्मदर्शी' कवि थे। 'उस पार' उनके काव्य का विषय था। प्रेम उनकी परिपाटी, चिरमिलन उनका लक्ष्य, विश्व के अणु-अणु में इसके निर्माता एवं अपने जीवनकांत तथा सर्वस्व की 'रूप-माधुरी' देखकर आनंद से पुलकित होना, आत्मविस्मृत होकर 'उस' की शीतल एवं मधुर-गोद में उसके अधरों का रस पीना ही जायसी का एकांत उद्देश्य था। एक ही प्रश्न कबीर के और जायसी के सामने था, और वह था अन्तर के परदे को उठा देने का। कबीर ने बहुत जोर से उस परदे को झटका था और 'घूँघट का पट' खोलकर अपने 'राम' की झाँकी पायी थी। सूर ने वात्सल्य-रस के अनंत विलास में अपने 'हृदय की गुड़िया' पायी थी। तुलसी ने संयम एवं साधना से संसार को 'सिया राम मय' देखा था। मीरा ने अत्यंत उत्कण्ठा से अपनी सहज स्नेह-धारा में नंद के दुलारे को अपनी आँखों की खिड़की से लाकर 'हिरदय के रंगमहल' में कैद कर लिया था।

जायसी का भी पथ कबीर और मीरा के बीच से निकला है। कबीर के ज्ञानवाद में मीरा की माधुरी मिला दीजिये, और जायसी का 'रूप' देख लीजिये। जायसी की भक्ति में ज्ञान का पुट मीरा से अधिक था; जायसी के ज्ञान में भक्ति का पुट कबीर से अधिक था। 'सैंया की सूरत' को कबीर ने अपने 'अनहद' में, मीरा ने हृदय के अविश्रांत 'रास' में देखा था। जायसी ने 'पिया की गैल' में प्रेम की लगन एवं ज्ञान का प्रकाश लेकर अपना पथ ढूँढ़ा। 'परदे' को एक ओर हटाकर शीशमहल की झाँकी छवि देखी थी—"जिधर देखता हूँ तू ही तू ही तू है।"

अनुभूति के उसी अंश को, जिसमें हम अपने सारे अस्तित्व

को अपने आराध्य में लय कर तादात्म्य स्थापित करने लगते हैं, समाधि-सुख का अनुभव करनेवालों ने 'ब्रह्म-संस्पर्श' का आत्यंतिक सुख माना है। प्रणय का विकास इस परिणय में होता है। जायसी ने अपने 'इकतारे' पर वही अनमोल रागिणी छेड़ी है, जिसे सुनकर मालूम होता है कि किसीने हमारे हृदय की व्यथा चुराकर अपना ली है। उसके राग में विश्व की वेदना झंकृत हो रही है। वह—उस 'शून्य' में जहाँ शब्द नहीं है—मन-वाणी की पहुँच नहीं है, पहुँचता नजर आता है और सोऽहमस्मि, तथा अनलहक की ध्वनि से सारी वसुधा को आप्लावित कर रहा है। वह स्वयं रस में सराबोर है और पास आनेवालों को भी उन्माद का घूँट पिलाये बिना नहीं रहता। जायसी का क्षेत्र है हृदय, कबीर का मस्तिष्क। जायसी के रस को एक अँगरेज लेखक ने यों वर्णन किया है—

All at once I experienced a feeling of being raised above myself, I felt the presence of God... ......as if his goodness and his power were penetrating me altogether.........in ecstasy of mine. God had neither form, colour, odour, nor taste... ......But the more I seek words to express this intimate intercourse, the more I feel the impossibility of describing the thing by any of our usual images. All I can say is that God was present, though invisible. He fell under none of my senses, yet my consciousness perceived Him.

अर्थात् सहसा मुझे एकबार ब्रह्म-स्पर्श की अनुभूति हुई। मैं

चेतना-हीन था, उसके रस से ओत-प्रोत था। मैं उस आत्म-विस्मृति के भावों को व्यक्त करने में असमर्थ हूँ × × ×

उस 'परदे' को हटा कर जिसे उपनिषदों में "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं" कहा है, अपने भीतर की अलौकिक छवि की रहस्यमयी माधुरी को छककर पीनेवालों के लिये जायसी के अखरावट की 'एक घूँट' बहुत ही अमृतमय प्रतीत होगी।

महात्मा चरनदासजी

बाउल गंगाराम ने कहा है—तू दासी थी क्या अब रानी होगी? तो फिर तुझे सारा दावा छोड़ना होगा। प्रेम में तू पकड़ी जायगी, तो आराम विराम सब खोना पड़ेगा। तुझे नींद कहाँ, भूख कहाँ? मुक्ति कैसी पुण्य कैसा? तू अपने ही प्रेम में स्वामी के प्रेम का स्पर्श पायगी।

समस्त चर अचर परमात्मा का साकार स्वरूप है। इस समस्त अभिनय का वह एक सूत्रधार अपनी लीलाओं का झीना आवरण डाले पर्दे के भीतर से मुसकरा रहा है। उस सनातन दिव्य सत्ता के स्पर्श में आ जाना, उसे सर्वत्र और सर्वदा अनुभव करना ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। यही अनात्म से आत्म में प्रवेश करना है और इसे ही कहते हैं आत्म-साक्षात्कार।

उपनिषदों ने 'आत्मानं विद्धि'—'अपने को जानो' को ही डंके की चोट कहा है। हमारे ऋषि-मुनियों ने भी बार-बार इसे ही

दुहराया है। भगवान् से यदि परिचय नहीं हुआ तो यह जन्म अकारथ गया। साँस-साँस में 'साईं' का स्मरण न हुआ तो संसार में आना बेकार हुआ। यही ऋषि-मुनि, संत-महात्माओं ने बार-बार सुझाया है। भगवान् के सिवा सार वस्तु कोई है नहीं। 'हरि' से हृदय का ग्रन्थिबन्धन न हुआ तो जीवन से क्या लाभ? 'भजिय राम सब काम बिहाई'—यही महात्माओं का उपदेश है। भारतवर्ष की मूल साधना यही रही है। संतों ने अपने भीतर भगवान् की झाँकी पायी और समस्त चराचर में उसी एक परमात्मसत्ता का साक्षात्कार किया। इस अमृतमन्थन से जो कुछ उन्हें मिला वे 'प्रसाद' रूप में छोड़ गये। हम उस प्रसाद को पाकर अपना जीवन धन्य कर सकते हैं।

महात्मा चरनदासजी उन्हीं आत्मदर्शी संतों में हैं जिन्होंने परमात्मा के परिचय में ही अपना सारा जीवन लगाया। मेवात (राजपूताना) के डेहरा गाँव में इनका जन्म १७६० वि० सं० के लगभग हुआ था। वे गृहस्थ वैश्य थे और उन्होंने दिल्ली तथा पंजाब में अपने मत का प्रचार किया था। चरनदासी पन्थ आज भारतवर्ष के कई हिस्सों में फैला हुआ है वह इन्हीं का है। इनकी प्रधान दो शिष्याएँ थीं—सहजो और दया। कहते हैं कि उन्नीस वर्ष की अवस्था में महात्मा चरनदासजी जंगल में एकान्त तपस्या कर रहे थे। उसी समय श्रीशुकदेवजी ने इन्हें दर्शन दिये और मन्त्र दिया। अपने पदों में भी गुरु के रूप में इन्होंने श्रीशुकदेव मुनि का स्मरण किया है। इनके मत में 'शब्द-मार्ग' बहुत प्रचलित है। योग, ध्यान आदि की बातें प्रमुखरूप से इनके सम्प्रदाय में पायी जाती हैं। महात्मा चरनदासजी ने अपनी बानी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और आशा को सर्वथा परित्याग करने का उपदेश किया है, क्योंकि इनका यह दृढ़ विश्वास है कि

इन शत्रुओं को जीते बिना साधना हो नहीं सकती।

साधना के आरम्भ में संसार के नाना उपद्रव बड़े ही विकराल रूप में आते हैं। ज्यों ही मन ससार से हट कर भगवान् में लगने लगता है त्यों ही संसार घेर लेता है। संसार से छुटकारा हुआ नहीं, फिर मन प्रभु में कैसे लगे? यह संग्राम ही साधना की सब से विकट समस्या है। सच्चा शूर तो वही है जो इन प्रमत्त शत्रुओं पर शासन स्थापित कर सके। साधक का यह संग्राम यों तो चलता है जीवन पर्यन्त, परन्तु आगे चलकर जब गुरु का सहारा और भगवान् का आश्रय प्राप्त हो जाता है तब उसे कुछ सुगमता हो जाती है। साधना के पथ में गुरु का सहारा अनिवार्य है। 'बिन गुरु होंहि न ज्ञान'—सनातन सत्य है। गुरु की शरण में जाने पर ही अनात्म का साथ छूट सकता है। गुरु हृदय की आँखें खोलकर हमें भगवान् के साथ जोड़ देता है, मिला देता है। गुरु ही भगवान् द्वारा हमारा 'पाणिग्रहण' कराता है। महात्मा कबीरदास ने तो गुरु और गोविन्द दोनों को सामने देखकर पहले गुरु के ही चरणों में अपने को बलिहार किया है, क्योंकि गुरु की कृपा से ही गोविन्द के दर्शन हुए। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'श्रीगुरु-पद-नख मनि-गन-जोति' से अपने हृदय को जगमग किया और उनका यह अटल विश्वास है कि श्रीगुरु के चरण-कमलों के स्मरण मात्र से ही हृदय की दिव्य-दृष्टि खुलती है। गुरु के चरण-नख की द्युति से महान अन्धकार भी छिन्न-भिन्न हो जाता है और जिसके हृदय में श्रीगुरुचरणों का स्मरण है वह वास्तव में बड़भागी है। गुरु के चरणों की कृपा से ही हृदय की विमल आँखें खुल सकती हैं और जब वे आँखें खुल गयीं तो संसार रूपी रात्रि का दोष और दुख आप ही मिट गया; जन्म-मरण का बन्धन आप ही छिन्न-भिन्न हो गया।

महात्मा चरनदासजी ने गुरु की महिमा गायी है, और गुरु के चरणों में अपना हृदय अर्पण किया है। चरनदासी पन्थ में गुरुचरणों का आश्रय लेना ही सर्वोच्च साधन है। सहजो और दया तो गुरु का गुणानुवाद गाते-गाते कभी थकतीं ही नहीं। महात्मा चरनदासजी का तो कहना है कि तीनों लोक में ढूँढ़ आया, परन्तु गुरु के समान कोई न दिखा, क्योंकि उनके नाम मात्र से सब पाप मिट जाते हैं और उनका ध्यान करने से हरि का साक्षात्कार होता है। गुरु के प्रताप से ही संसार की समग्र व्याधियाँ मिट सकती हैं और हृदय में अथाह प्रेम उपजता है। इस हाड़-मांस के पुतले को गुरु ने साधन मार्ग में लगाकर धन्य कर दिया। जब से गुरु श्रीशुकदेव मुनि ने कृपा की और मुझे दर्शन दिये तब से रोम-रोम में वे ही रम रहे हैं।

मैं मिरगा गुरु पारधी, सबद लगायो बान।
चरनदास घायल गिरे, तन मन बीधे प्रान॥

गुरु ने 'शब्द' के बान साधकर मुझ मृग पर छोड़ा। मैं घायल होकर गिर पड़ा। मेरे तन, मन, प्राण उस बान से बिंध गये। महात्मा कबीरदास ने भी कहा है—

हौं हिरनी पिय पारधी हो, मारे सबद के बान।
जाहि लगी सो जानही हो, और दरद नहिँ जान॥

गुरु के तीर से जबतक हृदय घायल नहीं हुआ, जबतक अन्तर्दृष्टि खुली नहीं, तबतक हरि के दर्शन कैसे हों? सद्गुरु की कृपा से ही चौरासी लाख योनियों में भटकना बंद होगा। गुरु के चरणों का आश्रय पा लेने पर जगत् के विषयों से जो हमारा संग्राम चल रहा है वह स्वयं मिट जाता है और हमारी सारी शक्ति जो विषयों को जीतने में लगी थी, परमात्मचरणों में वेगमती होकर

चलती है। जिसने मन को जीत लिया उसका तो आधा काम हो गया, अब तो जीते हुए मन को भगवान् में लगाना ही बाकी रहता है; और मन अचंचल होकर लगता भी है पूर्णतः भगवान् में ही।

भगवान् की झाँकी पाने के लिये हृदय को निर्मल दर्पण के समान बनाना होगा। हृदय पवित्र हो और भगवान् की ओर हो तभी हरि के दर्शन होंगे। साधना का प्रधान लक्ष्य है ईश्वरोन्मुख होना। समग्र कर्म, सभी व्यापार, समस्त जीवन का एक-एक पल, हृदय का रेशा-रेशा, शरीर का रोम-रोम श्रीकृष्णार्पण होना चाहिये। साधक तो केवल अपने को ही नहीं अपितु समग्र विश्व, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड को प्रभु के चरणों में अर्पण कर देता है। उसके लिये अपना जीवन और यह विश्व 'निर्माल्य' है। निःशेष श्रीकृष्णार्पण प्रभु की प्रेरणा से ही सम्भव है। परन्तु एक बात तो हम करते रहें—सदैव, अहर्निश, सोते-जागते, उठते-बैठते भगवत्स्मरण स्वाभाविक रूप में होता रहे। संसार के विषयों से मुख मोड़कर हमारी सभी इन्द्रियाँ भगवान् को ही विषय करें। मन प्रभु का मनन करे, कान हरिगुण गान सुनें, जीभ भगवान् का गुणानुवाद गावे, आँखें हरि की मूर्ति और संतों का दर्शन करें, हाथ हरि के चरणों का स्पर्श करें और पैर तीर्थों में घूमें। सच्चा स्मरण तो करना नहीं होता। प्रियतम तो रोम-रोम में छाये हुए हैं; हृदय के सिंहासन पर विराजमान हैं; भीतर की आँखें खोलकर और आवरण हटा देने पर हरि की जब झाँकी मिल गयी तो उसके स्मरण बिना एक क्षण के लिये भी कल नहीं। प्रियतम का स्मरण तो प्राणों का प्रधान अवलम्बन है ही। स्मरण किये बिना प्राण टिक नहीं सकते। यही स्मरण सच्चा स्मरण है।

महात्मा चरनदासजी ऐसे ही स्मरण की चर्चा करते हुए लिखते हैं—

सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माँहिं ।
अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूले नाहिं ॥

सहज स्मरण के द्वारा समस्त वृत्तियाँ जब प्रभुमय हो जाती हैं तो हृदय का दर्पण स्वतः उज्वल हो जाता और प्यारे की तस्वीर उतर आती है। व्यक्तिगत जीवन में यही भगवान् का अवतरण है। लोगों की दृष्टि में श्रीराम और श्रीकृष्ण भले ही ओझल हो गये हों परन्तु संत-महात्मा तो आज भी पूर्ववत् उनका दिव्य दर्शन करते हैं। उनके लिये भगवान् का जो प्राकट्य सनातन-काल के लिये हुआ था। संतों के लिये तो आज भी भगवान् का दिव्य विग्रह साक्षात्कार का विषय है। हम सांसारिक पुरुष जितना ठोस इस जगत् को समझे हुए हैं उससे भी अधिक विश्वास और प्रतीति उन महात्माओं को परमात्मा के दिव्य दर्शन में है।

महात्मा चरनदासजी ने स्मरण और 'लौ' के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए कहा है—

जग माँही न्यारे रहौ, लगे रहौ हरि-ध्यान ।
पृथ्वीपर देही रहै, परमेसुर में प्रान ॥

शरीर से संसार में रहते हुए भी मन से हम भगवान् में रह सकते हैं। आवश्यकता है प्राणों को प्रभु में होम कर देने की। प्रभु के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से जब प्राण ओतप्रोत हो गये तब बाकी ही क्या रहा ?

सारी साधना का मूल है प्रेम। प्रेम नहीं हुआ तो जप, तप, पूजा, पाठ किस काम का ? दर्शन तो प्रेम ही करा सकता है। प्रेम के द्वार से ही प्रभु के मन्दिर में प्रवेश होता है। समस्त साधन—जप, तप आदि हृदय में प्रेम उत्पन्न कराने के लिये ही हैं। प्रभु के लिये हृदय में प्रेम का जब उदय हो गया तब फिर क्या

पूछना है ? प्रेम तो पारसमणि है—वह समस्त साधनों को, सम्पूर्ण जीवन को 'सोना' बना देता है। प्रेम ही श्रीकृष्णार्पण का एकमात्र साधन है। महात्मा चरनदासजी ने इस प्रकार के भगवत्प्रेम की प्रशंसा करते हुए कहा है—

हिरदै माहीं प्रेम जो, नैनों झलकै आय।
सोइ छका हरि रस पगा, वा पग परसौं धाय॥

हृदय में प्रभु का प्रेम उमड़ पड़ा और आँखों में झलक उठा। वही हृदय हरि के रस में पगा है, वे ही आँखें उस अमृत में छकी हुई हैं—ऐसा प्रेमी धन्य है। उसके चरण-तल में मस्तक नत कर के, उसके चरणों की धूलि सिर-आँखों पर रखकर हम भी धन्य हो सकते हैं। उस प्रेम की चर्चा में महात्मा चरनदासजी के वचन हैं—

गदगद बानी कंठ में, आँसू टपकै नैन।
वह तो बिरहिन राम की, तलफत है दिन-रैन॥
हाय हाय हरि कब मिलैं, छाती फाटी जाय।
ऐसा दिन कब होयगा, दरसन करौं अघाय॥

प्राणनाथ सुध लें या नहीं, भक्त तो प्रभु के बिना रह न सकेगा। वह तो संसार से उदासीन होकर 'पिय' के रंग में राता रहेगा—

पीव चहौ कै मत चहौ, वह तौ पी की दास।
पिय के रँग राती रहै, जगसूँ होय उदास॥

अब तो 'पिय' के सिवा कुछ रह ही नहीं गया है—

जाप करै तो पीव का, ध्यान करै तो पीव।
पिव बिरहिन का जीव है, जिव बिरहिन का पीव॥

पिय ही विरहिणी का जीव है, पिय ही विरहिणी का प्राण है।

अपने भीतर डूबकर देखने पर सर्वत्र सर्वदा परमात्मा का दर्शन हो सकता है। परन्तु है यह बहुत ही कठिन। इसके लिये तो अपना सब कुछ होम करना होगा। 'मैं' को मिटाना होगा। जिस प्रकार दूध में घी, मधु में मिठास तथा मेंहदी में रंग ओतप्रोत है उसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु दूध से घी तथा मेंहदी से रंग निकालने के लिये 'जतन' करना पड़ता है, उसी प्रकार परमात्मा को पाने के लिये साधन का आश्रय लेना पड़ता है और सच्चा साधन तो वही है जो प्रभु को मिला दे—

दूध मध्य ज्यों घीव है, मिहँदी माँहीं रंग।
जतन बिना निकसै नहीं, चरनदास सो ढंग॥

प्रभु से परिचय अथवा मिलन के लिये हमारे संत-महात्माओं ने पतिव्रता के प्रेम को ही आदर्श रूप में स्वीकार किया है। पतिव्रता उसे कहते हैं जो अपने 'पति' के सिवा किसी को जानती ही नहीं। उसका सारा सुख पति पर निर्भर है। पति के सिवा और किसी की ओर वह देखती तक नहीं। पति ही उसकी गति, पति ही उसकी मति है, वह सतत प्राणनाथ के चरणों की दासी है। कबीर, दादू आदि महात्माओं ने पतिव्रता के प्रेम को आदर्श माना है। महात्मा चरनदासजी ने भी इसपर बहुत जोर दिया है। उनका कथन है कि संसार के सभी कार्यों में प्रभु की आज्ञा का स्मरण बराबर बना रहे। एक भी ऐसा कार्य न हो जो प्राणनाथ को न रुचे। अपने पिय के रंग में राती रहे, और कुछ संसार में उसे सुहावे ही नहीं। वह परपुरुष को विष के समान समझे।

पति की ओर निहारिये, औरनसों क्या काम।
सबै देवता छोड़िकै, जपिये हरि का नाम॥

यह सिर झुके तो हरि के चरणों में ही, नहीं तो टूटकर गिर जाय। अपने 'स्वामी' को छोड़कर दूसरे देवता का स्पर्श कभी न करूँ; भले ही यह शरीर छूट जाय!

यह सिर नवै तो रामकूँ, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहिं परसिये, यह तन जावो छूट॥

जब पति से 'परिचय' हो गया तो फिर अब क्या भटकना? उसे ही जब एकान्तरूप में भजा जाय तो वह अपना लेगा और अपने परमधाम में रखकर, बाँह पकड़कर आनन्द देगा—

जब तू जानै पीवहीं, वह अपनी करि लेहि।
परम धाम में राखि करि, बाँह पकरि सुख देहि॥

इसके लिये अपनी ओर से आवश्यकता है आज्ञाकारिणी पतिव्रता की भाँति बनने की—

आज्ञाकारी पीव की, रहै पियाके संग।
तन मन सों सेवा करै, और न दूजो रंग॥

जिसे प्रियतम से मिलन का रस मिल गया उसके लिये संसार के सभी रस नीरस हो गये। जिसने उस अपरूप-रूप को देख लिया उसकी दृष्टि संसार के रूप पर क्यों जायगी? जिसे उसका नाम मिल गया उसके लिये और नाम से क्या ममता? जिसे हरि के दिव्य अङ्ग का स्पर्श प्राप्त हो गया उसे संसार के किसी भी पदार्थ में स्पर्श सुख क्या रह गया? भगवान् में एक साथ ही हमारी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। 'भूमा' का आनन्द भी यही है। इसे ही चरनदासजी ने 'आठ पहर साठौं घरी, जागै हरि के ध्यान' कहा है। सदा-सदैव भगवान् में जागता रहे;

आवरण में उलझ न जाय, गुड़ियों में फँस न जाय ! गुड़ियों को फेंकता जाय, खिलौनों पर आँखों को कभी टिकने न दे—पानी की लहरें आती जायँ—उन्हें चीरता जाय; 'उस पार' का विस्मरण न हो, प्राणनाथ से मिलना है—यह भूले नहीं। दृष्टि सर्वत्र, सदैव हरि पर ही रहे—संसार के घने आवरण को भेदकर, जगत् के आकर्षण को बेधते हुए, उमङ्ग और उल्लास के साथ आगे बढ़ता चला जाय—'सोये हैं संसारसूँ, जागे हरि की ओर'··· आज न सही कल, इस जन्म में न सही किसी भी जन्म में प्रभु के दर्शन तो होंगे ही। वह मिलन ही यात्रा की 'इति' है !

महात्मा धरमदासजी

तोमारे जितिया लब आपन हृदय थोब ।
नतुवा हइब तोमार दासी ॥
—चण्डीदास

तुम्हें जीत कर अपने हृदय में रक्खूँगी । नहीं तो फिर तुम्हारी दासी बनूँगी ।

लोक और वेद को मथकर संतों ने सार-तत्त्व निकाला । आत्मानुभव के उस दिव्य प्रकाश में जगत् की कोई सत्ता ही नहीं रही । समस्त नाम-रूप में एक ही नाम और एक ही रूप रह गया । आत्मा में दृष्टि जब डूबी तो सब कुछ परमात्मरूप ही हो गया । वह दृष्टि जहाँ गयी वहाँ केवल हरि ही था । भीतर जब साक्षात्कार हो गया तो बाहर का कोई प्रश्न ही न रहा । सारी लड़ाई, सारी विषमता और विरोध तो भीतर को लेकर ही है । मन को जीत लिया तो जग जीत लिया ।

नैनन आगे ख्याल घनेरा ॥
जेहि कारन जग डोलत भरमे,
सो साहेब घट लीन्ह बसेरा ॥
का साँझा का प्रात सबेरा,
जहँ देखूँ तहँ साहेब मेरा ॥
अधं उर्ध बिच लगन लगो है,
साहेब घट में कीन्हा डेरा ॥
साहब कबीर एक माला दीन्हा,
धरमदास घट ही बिच फेरा ॥

धरमदासजी कबीर के प्रधान शिष्यों में थे। कबीर की अटपटी परन्तु तत्वभरी 'बानी' धरमदास के हृदय में चुभ-सी गयी। धरमदासजी ने देखा कि कबीर जो कुछ कह रहे हैं वह अनुभव के रस में सराबोर है। कबीर पढ़े-लिखे तो थे नहीं और काम भी करते थे जुलाहे का। साधारण वेश और गँवारू बोली देखकर बहुत लोग कबीर को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। परन्तु संत-महात्माओं को इसकी क्या चिन्ता ? वे तो न 'पन्थ' चलाना चाहते हैं और न शिष्य-परम्परा ही छोड़ जाना चाहते हैं। कबीर में जो निर्भीकता, दृढ़ता और अक्खड़पन था उसके कारण भी लोग कबीर से ऊबते से थे। परन्तु जिसपर परमात्मा दया करता है उसकी आँखें खोल देता है। कबीर के दर्शन पाकर धरमदासजी प्रेम-विभोर होकर गा उठे—

आज बड़ी आनन्द की सतगुरु आये मोरे धाम हो।
आये गुरुदेव सजन पठयो, भयो हरष अपार हो ॥
सकल सुंदर साजि आरत होत मंगलचार हो ॥
दियो दरसन मन लुभायो, सुन्यो वचन अमोल हो।
अछय छाया सघन घन की करत हंस कलोल हो ॥

दया कीन्हो निर्गुन दीन्हो, आपनी करि सैन हो।
भक्ति-मुक्ति सनेही सजनै, लियो परथम चीन्ह हो॥
भये कलमल दूर तन के, गई तपन नसाय हो।
अटल पंथ कबीर दीन्हा, धरमदास लखाय हो॥

धरमदासजी को सबसे पहले कबीर का दर्शन मथुरा में हुआ था। देखते ही धरमदास की श्रद्धा उमड़ पड़ी। परन्तु संतों की लीला भी तो बड़ी विचित्र है। धरमदास को अपनाना था, इसीलिये कबीर अचानक उन्हें छोड़कर काशी चले गये। स्वभावतः ही धरमदास व्याकुल हो तड़फड़ाने लगे। आध्यात्मिक पिपासा की यह विकलता बड़ी ही दुर्लभ वस्तु है—

नैन दरस बिन मरत पियासा।
तुमहीं छाड़ि भजूँ नहिं औरे, नाहिं दूसरी आसा।
आठों पहर रहूँ कर जोरी, करि लेहु आपन दासा॥
निसु बासर रहूँ लवलीना, बिनु देखे नहिं बिस्वासा।
धरमदास बिनवै कर जोरी, देहु निज लोक निवासा॥

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक बार ऐसा अवसर अवश्य आता है जब उसे परमात्मा का संकेत स्पष्ट रूप में मिलता है। यदि उसने उस संकेत को ठीक-ठीक जान लिया और तदनुकूल अपना जीवन बना लिया तब तो मनुष्य-जीवन धन्य हो ही गया। परन्तु हम तो संसार में इतने चिपटे हुए हैं कि इससे परे कोई वस्तु है या नहीं, यह ध्यान भी नहीं होता! जगत् को भला कौन भोग सका? कितने आये और चले गये—संसार उनकी भोग-बुद्धि पर व्यङ्गपूर्ण अट्टहास कर रहा है।

धरमदास के हृदय की ज्वाला उत्कट और सच्ची थी। वे कबीर की खोज में काशी पहुँचे! उन्होंने कबीर को गुरु रूप में

वरण किया और अपनी सारी धन-दौलत लुटा दी और काशी में ही कबीर साहेब की शरण में रहने लगे। कबीर के परमधाम सिधारने के अनन्तर धरमदासजी को उनकी गद्दी मिली और वे बरसों तक कबीरमत का उपदेश करते रहे। धरमदासजी के जन्म और निधन की कोई निश्चित तिथि नहीं मिलती। लोगों का अनुमान है कि लगभग १४८० वि० संवत् में उनका जन्म और लगभग वि० संवत् १६०० के उन्होंने शरीर त्याग किया। १२० वर्ष की अवस्था उनके दृढ़ संयम को देखते हुए अधिक नहीं है।

धरमदासजी की 'शब्दावली' में उनकी अगाध गुरु-भक्ति, अप्रतिम भगवत्-प्रेम और एकान्त अध्यात्मनिष्ठा शब्द-शब्द में भरी पड़ी है। धरमदासजी एक बड़ी ही ऊँची श्रेणी के आत्मदर्शी संत थे और लगभग चार सौ वर्ष हो चुकने पर भी, आज भी उनकी बानी चन्दन के समान शीतल और अमृत के समान मधुर प्रतीत होती है; आज भी उसमें से एक अपूर्व विद्युत्-धारा-सी छूट रही है जिसके स्पर्श में आ जाने पर काई लगा हुआ हृदय भी चमक उठता है, मुर्दे में भी प्राण आ जाता है और हम जीवन के विविध प्रश्नों पर एक चिरनवीन परन्तु परम पुरातन दृष्टि से विचार करने लगते हैं।

संतमत में गुरु को खोजकर उसकी शरण में जाना ही पहली सीढ़ी है। गुरु पाना बड़ा ही दुर्लभ है। जिसने सच्चा गुरु पा लिया उसका काम बन गया, उसका जीवन कृतार्थ हो गया। श्रीगुरु के चरणों की नख-द्युति हमारे कोटि-कोटि जन्मों की संस्कारगत वासना को नष्ट करके हमें सच्चे अध्यात्म-पथ में प्रेरित कर देती है। गुरु ही हमें गोविन्द से मिला सकता है। धरमदासजी सद्गुरु की महिमा गाते-गाते कभी थकते नहीं—

गुरु मोहि खूब निहाल कियो ।

बूड़त जात रहे भवसागर पकरिके बाँहि लियो ।

चौदह लोक बसें जम चौदह, उनहुँसे छोरि लियो ॥

गुरु ने मुझे खूब ही निहाल कर दिया । संसार-सागर में मैं बहा जा रहा था, गुरु ने मेरी बाँह पकड़कर मुझे उबार लिया । उन्होंने ही कृपा कर मुझे यम के फंदे से सदा के लिये छुड़ा दिया । हृदय की घुंडी खोलकर गुरु ने प्रीतम से साक्षात्कार करा दिया और मैं सदा के लिये निहाल हो गया । सच्चे गुरु का मिलना परमात्मा की विशेष दया का शुभचिह्न है—

मोरे पिया मिले सत ग्यानी ।

ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत सुरत लुभानी ॥

आपन रूप जब चिन्हा बिरहिन, तब पिय के मन मानी ।

जब हंसा चले मानसरोवर, मुक्ति भरे जहँ पानी ॥

कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढ़ै प्रेम की बानी ।

धरमदास कबीर पिय पाये, मिट गई आवाजानी ॥

गुरु तो स्वयं भगवान् का स्वरूप है । उसे देखते ही हृदय गुलाम बन गया । जब अपने सत्य स्वरूप का बोध हुआ तभी पिय को मैं अच्छी लगी । गुरु की दया से आत्मा अपने परम-पुरुष में मिल गयी । उस आनन्द का क्या कहना ? मुक्ति—मुक्ति तो वहाँ चेरी बनकर पानी भरती है । कर्मों का बन्धन स्वयं छिन्न-भिन्न हो गया । कर्मों का आश्रय तो अविद्या ही है । जब स्वयं अविद्या ही मिट गयी तो कर्मों का क्या पूछना ? वहाँ तो बस प्रेम-ही प्रेम है ! जब सच्चे 'प्रीतम' को पा लिया तो आवा-गमन का झगड़ा कैसा ?

गुरुमुख से प्राप्त 'नाम' ही साधक का सर्वस्व है । नाम के रस में साधक सदैव छका रहता है । लोक-परलोक की सुधि उसे

क्यों रहे ? वह तो बस 'नाम' में ही मस्त है। रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते नाम की धुन लगी हुई है—

नाम रस ऐसा है भाई।
आगे आगे दाहि चलै पाछे हरियर होइ।
बलिहारी वा बृच्छकी, जड़ काटे फल होइ॥
अति कड़वा खट्टा घना रे, वाको रस है भाई।
साधत साधत साध गये हैं, अमली होय सो खाई॥
सूँघत के बौरा भये हो, पीयत के मरि जाई।
नाम रस्स जो जन पिये, धड़पर सीस न होई॥
संत जवारिस सो जन पावै जाको ग्यान प्रगासा।
धरमदास पी छकित भये हैं, और पिये कोइ दासा॥

'नाम' एक विचित्र चिनगारी है। आगे-आगे यह संसार के सघन वन को जलाता है और पीछे से भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की वाटिका हरी-भरी होती आती है। 'नाम' के द्वारा ही संसार-वृक्ष की जड़ को काटा जा सकता है। संसार को काट चुकने पर ही तो जीवन का फल प्राप्त होगा। नाम बड़ी कठिन वस्तु भी है। सहज ही इसका रस पीने को नहीं मिलता। प्रारम्भ में तो यह बहुत ही कड़ुआ और खट्टा प्रतीत होता है; पीते नहीं बनता। परन्तु जिसने इसे साध लिया उसने अपने आँगन में कल्पवृक्ष लगा लिया। 'नाम' का रस सूँघते ही हृदय प्रेम में पागल हो जाता है; पीते ही अहङ्कार भस्म हो जाता है, मैं-पन मिट जाता है। जिसने नामरस पी लिया उसके धड़ पर सिर नहीं रहता। शरीर के साथ जो हमारा मोह है, इस शरीर को ही जो हम 'मैं-मैं' समझे हुए हैं, यही सारे दुःखों का कारण है। नामरस पी लेने पर इस झूठे 'मैं' की मृत्यु हो जाती है और सच्चे 'मैं' के दर्शन होते हैं। संत-समागम का अमृत-रस तो उसे ही प्राप्त होगा जिसका अन्तस् ज्ञान-

प्रकाश से जगमगा रहा है। धरमदासजी तो नाम के रस को पीकर छके हुए हैं। यदि और कोई प्रभु का दास हो वह आकर पी ले—द्वार सब के लिये खुला है; केवल शर्त है सिर की। सिर देकर कोई भी रामरस पी ले—

चरन कँवल सतगुरु दिया, हम सीस चढ़ाई।

संतों ने जगत् के अनित्य और असुख रूप को खूब ठोंक-बजाकर देख लिया है। इस कच्चे घड़े का क्या भरोसा? पानी का बूँद पड़ा नहीं कि यह गला नहीं। इस शरीर में जो हमारी ममत्व-बुद्धि है वही सारे अनर्थ का मूल है! इस जगत् को 'अपना' कहकर जो हम इससे चिपटे हुए हैं यही हमारा भ्रम है। इस भ्रम को मिटाये बिना तत्त्वज्ञान कैसा? भक्ति और ज्ञान दोनों में ही जगत् का जगत्रूप मिट जाता है। जगत् की उपासना करे वह भक्त या ज्ञानी कैसा? भक्त के लिये तो 'वासुदेवः सर्वमिति'—सब कुछ केवल वासुदेव हो जाता है; ज्ञानी के लिये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—सब कुछ ब्रह्म ही है। जगत् के लुभावने रूप में जो फँसा वह गया। यह जादू तो विष-रस-भरा कनक घट है। जगत् को भोगने के लिये सुख की आकांक्षा से जिसने पैर बढ़ाया वह ऐसे खंदक में गिरा जहाँ से कोटि-कोटि जन्मों में भी उसका उद्धार नहीं हो सकता। मानव-जीवन का तो परमफल है प्रभु का स्मरण। हरि का स्मरण बना रहे, नित्य-निरन्तर उसीका चिन्तन होता रहे, मन उसके रंग में रँग जाय, उसके अतिरिक्त कुछ रह न जाय—मेरा अहं भी स्वयं वासुदेव रूप हो जाय, फिर क्या पूछना? परन्तु इसके लिये आवश्यकता है विषयों की ओर से दृढ़तापूर्वक मन को मोड़कर हरिचरणों में लगाने की। यह तभी सम्भव है जब हम संसार को इसके असली रूप में देखें—

थोरे दिन की जिंदगी, मन चेत गँवार ॥
कागद के तन पुतरा, डोरा साहेब हाथ।
नाना नाच नचावही, नाचै संसार ॥
काच माटी के घइलिया, भरि लै पनिहार।
पानी परत गल जावही, ठाढ़ो पछिताय ॥
जस धूँआँ के धरोहरा, जस बालू के रेत।
हवा लगे सब मिटि गये, जस करतब अंत ॥
ओछे जलकै नदिया हो, बहै अगम अपार।
उहाँ नाव नहिं बेरा हो, कस उतरब पार ॥
धरमदास गुरु समरथ हो, जाको अटल अपार।
साहेब कबीर सतगुरु मिले आवागवन निवार ॥

अथाह समुद्र की छाती पर कागज की नाव बही जा रही है। रस्सी प्रभु के हाथ है। 'वह' जैसा नाच नचाता है वैसा ही नाचना पड़ता है। हम मूर्खता और अहङ्कारवश अपने को 'कर्ता' मान बैठते हैं; करनेवाला तो केवल हमारा सिरजनहार ही है। उसीके हाथ में हमारा समग्र जीवन-सूत्र है, वह चाहे जैसा नाच नचावे। यह हमारा शरीर, जिसका हमें इतना अभिमान है, एक कच्चे घड़े के समान है; जरा-सी ठेस लगी, एक बूँद पानी पड़ा और यह गया! परमात्मा ने दयाकर हमें यह मनुष्य का शरीर दिया—इसे पाकर भी फिर नरक का सामान इकट्ठा करना कितनी मूर्खता है! जिसे भी मनुष्य का देवदुर्लभ शरीर मिल गया वह मुक्ति का अधिकारी हो गया। मुक्ति का अधिकारी नरक की तैयारी में जीवन भर तल्लीन रहे—यह कितने आश्चर्य की बात है। मृत्यु का तो किसी को कभी स्मरण ही नहीं होता। ऐसा मालूम होता है मानो हम अमर होकर आये हैं। नित्य हम 'रामनाम सत्य है' का

दृश्य देखते हैं, परन्तु 'रामनाम' की सत्यता हमारे भीतर पैठती नहीं।

धुएँ के धौरहर का क्या आसरा? हवा बही और यह मिटा! यह संसार विषयों का महासागर है—इससे तरने के लिये केवल परमात्मा की कृपा और 'नाम' ही नाव है। जिस प्रकार जादूगर कठपुतली को जो नाच नचाना चाहे वही नाच वह नाचती है, उसी प्रकार हमें भी बड़ी प्रसन्नता और उल्लास के साथ प्रभु के संकेत-पर मस्ती और श्रद्धा के साथ नाचना चाहिये। कहीं इस अभिनय में ममत्व न आ जाय! वह जहाँ भेजे, जैसे रखे उसीमें अपनी परम प्रसन्नता और कल्याण-भावना होनी चाहिये। वास्तव में हम नाच तो रहे हैं निरन्तर उसी एक 'सूत्रधार' के संकेत पर—हम भले ही उस सङ्केत को स्पष्ट अनुभव करें या न करें। जो अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वास में परमात्मा की प्रेरणा का अनुभव करते हैं वे हर दशा और हर नृत्य में हरि के स्पर्श का सुख अनुभव करते हैं। विधान में ही स्वयं विधाता आकर हमारे प्रत्येक पल को अपने रूप-रस-गन्ध-स्पर्श से ओतप्रोत कर रहा है—

काग़द की नइया बनी हो डोरी साहेब हाथ।
जौने नाच नचैहैं हो नाचब वोही नाच॥

जगत् की ओर से मुँह मोड़कर परमात्मपथ में चलनेवाले के लिये महात्मा धरमदासजी के उपदेश बड़े ही अनमोल हैं—

सब्द बिचार नाम धर दीपक ले उर बारो हो।
जुगन जुगन कै अरुझनि, छन में निरुवारो हो॥
पंथे चलो गरीब होय, मद मोह निवारो हो।
साहेब नैन निकट बसै सत दरस निहारो हो॥
आपै जगत जिआइ कै मन सब से हारो हो।
जवन बिधि मनुआ मरै सोई भाँति सम्हारो हो॥

'नाम' का दीपक जलाकर हृदय में प्रकाश कर लिया और प्रीतम के दर्शन हो गये तब युग-युग की उलझन स्वयं एक क्षण में सुलझ गयी। जगत् की दृष्टि हमपर न पड़े, इसलिये बहुत गरीब बनकर पथ में चलें। अध्यात्म के पथ में अहंकार की पैठ ही नहीं है। मद और मोह ही तो संसार में भरमानेवाले हैं। इन्हें जब जीत लिया तो बीच का आवरण भंग हो गया और आँखें हर समय, हर स्थान में, सोते-जागते 'उसे' ही देखने लगीं। संसार के साथ संघर्ष में न लगकर मन को संसार से मोड़ लेना चाहिये और तब जीते हुए मन को मनमोहन में लगाना सरल हो जायगा।

मन जब अविचल रूप से प्रभु में लग गया, तो फिर अब क्या पूछना ?

> राते माते रहो बहुत जनि बोलो हो।
> निरखत परखत रहो, पलक जनि खोलो हो॥
> रजनी के दिहल किवार, सत कुंजी खोलो हो।
> ले उँजियारि में बैठि, निर्भय होइ खेलो हो॥

वहाँ मधु की धार बह रही है। उसे पीकर छके रहो। अब बोलना क्या ? आँखें बंद हैं—भीतर की छवि देख-देखकर गद्गद होते रहो। तमोगुण को पैठने न दो; सत्य का द्वार खोल-कर प्रकाश-राज्य में प्रविष्ट हो जाओ और वहाँ निर्भय होकर हरि से हिलो-मिलो !

एक बार भी, यदि एक क्षण के लिये भी मन पूरा-पूरा पिघल गया और हरि का रूप-रंग उसमें ओत-प्रोत हो गया, तो सदा के लिये ही उस अपरूप में निवास हो गया। एकान्त रूप से उसी एक की चाह रह गयी; और सभी चाह इस एक चाह में समा गयी। उस समय तो हृदय की बस एक ही कातर पुकार है—

साहेब चितवो हमरी ओर ।
हम चितवैं तुम चितवो नहीं, तुम्हरो हृदय कठोर।
औरन को तो और भरोसो, हमैं भरोसो तोर ॥

मैं तो तुम्हारी ओर एक दृष्टि से देख रहा हूँ, तुम मुझपर अपनी दृष्टि डालते तक नहीं। हाय! तुम्हारा यह पत्थर का कठोर हृदय !! सब ओर से निराश होकर तुम्हारी शरण में आया हूँ, तुम्हारा ही भरोसा, एकमात्र तुम्हारा ही आसरा और सहारा रह गया है—मेरे लिये तो तुम्हारे सिवा कोई है ही नहीं ! प्रभु की यह 'कठोरता' भी कितनी मधुर, कितनी मोहक है !

इस कठिन दुर्गम पथ पर चलते-चलते साधक थकता नहीं। बीच-बीच में उसे जो 'झाँकी' मिलती जाती है, उससे उसका उत्साह अधिकाधिक बढ़ता जाता है। चलते-चलते कभी-कभी वह 'अपने' को सर्वथा खो देता है—

साहेब देखौं तेरी सेजरिया हो।
लाल महल के लाल कँगूरा, लालिनि लागि किवरिया हो।
लाल पलँग के लाल बिछौना, लालिनि लागि झलरिया हो ॥
लाल साहेब की लालिनि मूरत, लालि-लालि अनुहरिया हो।
धरमदास बिनवै कर जोरी, गुरु के चरन बलहरिया हो ॥

कैसी विचित्र बात है कि हम सब कुछ खोजें, परन्तु अपने प्रीतम को खोजने का अवकाश ही न पावें ? प्रमाद की मोहमयी मदिरा पीकर हम उन्मत्त से हो रहे हैं।

साँझ भई पिया बिना अकुलानी।
देस-देस ढूँढ़ि फिरि आई, लोक-लोक मैं छानी।
कोई न खोजै पिय अपने को मुंड की मुंड गुमानी ॥

जगत् का जो सुख-भोग है, वह हमें परमात्मसुख-भोग से

वंचित रख रहा है। जगत् की ओर से मुख मोड़ लेने पर ही परमात्मपथ में चलना सम्भव है। दोनों एक साथ नहीं सधते। एक आत्मदर्शी महात्मा के इस सम्बन्ध में बड़े ही अनमोल अनुभव हैं—

"Mans' life is a paradox. Somehow he is placed in between sense pleasures and Divine pleasures. He must use his endowed reason to distinguish between the real soul pleasures and the pseudo-pleasures of the senses. If the devotee becomes addicted to sense-pleasures, his consciousness becomes caged behind the screen of bodily sensations and he cannot comprehend the superior pleasures of ecstasy in spirit. Do away with attachment to the sense, if you want to feel the joy of Heavenly consciousness vibrating in every cell of the ether."

मनुष्य का जीवन एक विचित्र पहेली है। एक ओर विषयों का सुख है और दूसरी ओर अध्यात्मसुख। वास्तविक आनन्द और झूठे सुख में विवेक द्वारा भेद समझकर सत्य सुख की उपलब्धि में लगना चाहिये। यदि साधक भौतिक सुख में उलझ गया, तो उसकी आत्मा एक पिंजड़े में बँध गयी और वह परमात्मसुख को क्यों जानने लगा? यदि दिव्य आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि चाहते हो, तो विषय-सुख की आसक्ति से मुक्त हो जाओ। परमात्मसुख तो एक-एक अणु में ओतप्रोत हो रहा है। आवश्यकता है मोह का आवरण हटाकर एकान्त भाव से परमात्मदर्शन और भगवन्मिलन की आकुल उत्कण्ठा की।

साधना के पथ में चलते हुए बहुधा साधक को अपनी बुराइयों और दुर्बलता का अत्यधिक स्मरण हो आता है; परन्तु वह निराश नहीं होता। उसका जब यह दृढ़ विश्वास है कि हरि ने मेरी बाँह पकड़ ली है, तो वह भला जगत् की भयानकता से परास्त क्यों हो? वह और भी अधिक आतुरता के साथ हरि का स्मरण करता है—

साहेब मोरि बँहियाँ सम्हारि गही ॥
गहिरी नदिया नाव झाँझरी, बोझा अधिक भई।
मोह-लोभ की लहर उठत है, नदिया झकोर बही ॥
तुमहिं बिगारो तुमहिं सँभारो, तुमहिं भँडार भरी।
जब चाहो तब पार लगाओ, नहिं तो जात बही ॥
कुमति काटि के सुमति बढ़ावो, बल-बुधि-ज्ञान दई।
मैं पापी बहु बेरी चूकूँ, तुम मेरी चूक सही ॥

यहाँ गिरधर की एक कुण्डलिया सहज ही स्मरण हो आती है—

नैया मेरी तनक-सी, बोझी पाथर भार।
चहुँ दिसि अति भौंरें उठत, केवट है मतवार ॥
केवट है मतवार, नाव मँझधारहिं आनी।
आँधी उठत प्रचंड, तेहु पर बरसत पानी ॥
कह गिरधर कविराय, नाथ हो तुमहिं खेवैया।
उठै दया को डाँड़, घाट पर आवै नैया ॥

एक बार 'प्रीतम' के दर्शन हो चुके हैं। मैंने समझा यह सुख अब मिटने का नहीं। परन्तु संसार से मेरा वह सुख देखा न

गया। वह बीच में आ टपका। मेरा वह 'सुख' छिन गया। अब तो यह जगत्-ही-जगत् रह गया। हरि की वह झाँकी जाने कहाँ विलीन हो गयी! रह-रहकर एक हूक-सी उठती है—

हमरी उमिरिया होरी खेलन की,
पिय मोसे मिलि के बिछुरि गयो हो॥
पिय हमरे हम पिय की पियारी,
पिय बिच अंतर परि गयो हो॥
पिया मिलै तब जियों मोरी सजनी,
पिय बिना जियरा निकरि गयो हो॥
इत गोकुल उत मथुरा नगरी,
बीच डगर पिय मिलि गयो हो॥
धरमदास बिरहिन पिय पावै,
चरण कँवल चित गहि रहो हो॥

उस 'आनन्द' का जहाँ चसका लगा कि संसार के सभी रस नीरस हो गये। जगत् में क्या शक्ति कि अब हमें प्रीतम से वियुक्त कर सके? भूल से मैं संसार को पूजता था, अब भ्रम मिट गया और हृदय के सिंहासन पर हरिजी विराज रहे हैं—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै खन बिजुली चमकै,
लहर उठै सोभा बरनि न जाय॥
सुन्न महल से अमृत बरसै,
प्रेम अनँद होइ साधु नहाय॥
खुली किवरिया मिटी अँधियरिया,
धन सतगुरु जिन दिया है बताय॥

संतों की आध्यात्मिक स्थिति का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। शब्दों में उस आनन्द का वर्णन कैसे हो ? वह तो स्वयंवेद्य है, गूँगे का गुड़ है। जिनके लिये यह जगत् रह ही नहीं गया; जो सर्वत्र, सर्वदा, भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, दायें-बायें, हर घड़ी, हर ठौर केवल हरि का ही दर्शन करते हैं, उसीका स्पर्श करते हैं, उसी का रसास्वादन करते हैं और उसी रस में स्वयं छके रहते हैं— उन के सुख का वर्णन कोई करे भी कैसे ? जो हमारा वास्तव में गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् है, उससे जब 'परिचय' हो गया, जब सर्वलोक महेश्वर ही हमारे परम सुहृद् हो गये, तब क्या चिन्ता, कैसा द्वन्द्व ?

बहुत वर्ष पहले, बचपन में एक महात्मा को खँजड़ी पर गीत गाते सुना था, मुझे वह बहुत भाया। आज समझ सका हूँ कि वह पद धरमदासजी का था। वह यों है—

कहँवा से हंस आइल, कहँवा समाइल हो।
कहँवा कइल मुकाम, कहाँ लपटाइल हो॥
निरगुन से हंस आइल, सगुन समाइल हो।
कायागढ़ कइल मुकाम, माया लपटाइल हो॥
एक बुंद से काया, महल उठावल हो।
बुंद परे गलि जाय, पाछे पछितावल हो॥
हंस कहे भाइ सरोवर, हम उड़ि जाइब हो।
मोर-तोर एतन दीदार, बहुरि नहीं पाइब हो॥
इहवाँ कोइ नहिं आपन, केहि सँग बोलै हो।
बिच तरवर मैदान, अकेला (हंसा) डोलै हो॥

लख चौरासी भरमि, मनुख तन पाइल हो।
मानुख जनम अमोल, अपन सों खोइल हो॥
साहेब कबीर सोहर गावल, गाइ सुनावल हो।
सुनहु हो धर्मदास, एही चित चेतहु हो॥

यदि वस्तुतः हम इसे समझकर हृदयङ्गम कर लें, तो फिर इस अनमोल मनुष्य शरीर का पाना सुफल हो गया, हमारा जीवन धन्य हो गया, हम सर्वथा निहाल हो गये; क्योंकि 'नहिं ऐसो जनम बारंबार'!

प्रेमयोगिनी मीरा

"I go with a perpetual heartache.
None can see God or Goddess and live"

—Coventry Palmore.

आज चार सौ वर्ष से ऊपर हुए प्रभु ने पृथ्वी पर प्रेम की एक पुतली भेजी थी। वह आयी। प्रभु के प्रेम में छकी हुई, प्रभु के आलिङ्गन में डूबी हुई, प्रभु के रूप में भूली हुई वह आयी। प्रभु के नूपुरों की रुनझुन में अपने हृदय की गति मिलाकर, प्रभु की मुरली में अपने प्राण ढालकर, प्रभु के पीताम्बर पर अपने को निछावर कर, प्रभु की मन्द-मन्द मुसकान पर अपना सब कुछ दे डालकर, प्रभु के चरणों के नीचे अपना हृदय बिछाकर वह अल्हड़ योगिनी पैरों में घुँघुरू और हाथ में करताल लेकर नाच उठी और प्रेम के आनन्द में विभोर होकर गा उठी—

सुनी मैं हरि आवन की अवाज।
म्हैलाँ चढ़-चढ़ जोऊँ मेरी सजनी, कब आवैं म्हाराज!

इतने दिन हो गये, आज भी यह गीत स्पष्टतः भीतर गूँज रहा है, मानो अभी कल की बात हो। ऐसा प्रतीत होता है, इन आँखों ने वह प्रेमोन्मत्त नृत्य देखा है, इन कानों ने वह दिव्य मंगल-संगीत सुना है। सन्ध्या का समय है। मीरा आरती कर चुकी है। सामने श्रीगिरधरलालजी की दिव्य मूर्त्ति विराज रही है। कमरे का द्वार बंद है और भीतर सारा स्थान तेज से जगमगा रहा है—दिव्य गन्ध से भर रहा है। मीरा अपने गिरधर के सामने नाच रही है। आँसुओं की धारा वह रही है—भीतर-बाहर सर्वत्र प्रभु का सुखद सुशीतल स्पर्श और उस स्पर्श की मादक मधुर सिहरन रोम-रोम को प्रेम में डुबोये हुए है।

मैं गिरधर रँगराती, सैयाँ मैं गिरधर रँगराती।
पचरँग चोला पहर सखी मैं झुरमुट रमवा जाती।
झुरमुट माँहीं मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती॥

'खोल मिली तन गाती!' निरावरण होकर, अवगुण्ठन हटाकर प्राणाधार से मिली, अपने प्राणों के प्राण, हृदय के सर्वस्व से मिली और मिलकर उसी में मिल गयी, एक हो गयी, तल्लीन हो गयी! यह बात तो पीछे जाकर खुली जब—

आधी रात प्रभु दरसन दीन्हीं प्रेम नदी के तीरा।

The beloved took me to his warm,
And I laid my bosom bare and clasped Him tight,
Ah! I clasped Him to my bosom.

संसार को इस मिलन और इस विरह का क्या पता? यह तो कुछ पगलों के लिये—प्रभु-प्रेम के दीवानों के लिये ही है। ऐसे दीवाने कितने हुए? संसार में चैतन्य और मीरा, मंसूर और ईसा कितने हुए?

मेवाड़ देश के मेड़ता में मीरा का जन्म वि० सं० १५५५ के लगभग हुआ। बचपन में ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और इसलिये इनके पालन-पोषण का भार इनके दादा राव दूदोजी पर पड़ा। दूदोजी परमवैष्णव थे। मीरा के संस्कार बचपन से ही कृष्णप्रेम से ओतप्रोत थे। बहुत बचपन में ही मीरा ठाकुरजी की पूजा के लिये पुष्प चुनती, माला बनाती और बड़े ही प्रेम से ठाकुरजी को पहनाती। भगवान् का शृङ्गार कर वह अपनी तुतली बोली में जाने क्या-क्या गुनगुनाती। प्रातःकाल नींद खुलते ही ठाकुरजी! बस, ठाकुरजी के सिवा न कुछ कहना, न कुछ सुनना। दादाजी जब भगवान् की षोड़शोपचार पूजा करते, तब मीरा एकटक देखा करती।

बचपन की ही एक घटना है—मीरा के घर एक साधु आये। उनकी पूजा में श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति थी। मीरा को वह मूर्ति ऐसी लगी, मानो वह उसके जन्म-जन्म का साथी हो। उसे पाने के लिये मीरा का हृदय मचला; पर वह साधु मूर्ति क्यों देने लगे! मीरा को उस मूर्ति के बिना कल कैसे पड़ती! उसने खाना-पीना छोड़ दिया और छटपटाने लगी। साधु ने स्वप्न में देखा कि उसके गिरधरलालजी उस अल्हड़ बालिका के पास पहुँचा आने का आदेश कर रहे हैं। भोर होते ही वह साधु मीरा को मूर्ति दे आया। अब मीरा की प्रसन्नता का क्या पूछना!

ऐसी ही एक और विचित्र घटना है—मीरा के गाँव एक बारात आयी। लड़कियों को बचपन में अपने भावी पति को जानने की बड़ी ही सरलतापूर्ण उत्कण्ठा रहती है। मीरा ने बड़ी सरलता से अपनी माता से पूछा—'माँ! मेरा विवाह किससे होगा?' बच्ची के प्रश्न पर हँसती हुई माँ ने कहा—'गिरधरलालजी से' और सामने की मूर्ति की ओर सङ्केत किया। मीरा के मन में

यह बात बैठ गयी कि गिरधरलालजी ही वास्तव में उसके पति हैं।

अठारह वर्ष की अवस्था में मीरा का विवाह मेवाड़ के इतिहास-प्रसिद्ध स्वनामधन्य राणा साँगा के जेष्ठ कुँवर भोजराजजी के साथ हुआ। मीरा अपनी ससुराल में भी अपने इष्टदेव की मूर्ति लेती गयी। मीरा का दाम्पत्य जीवन बड़ा ही आनन्द-पूर्ण था। ऐसी सती-साध्वी नारी अपने पतिदेव की सेवा न करेगी, तो कौन करेगी? मीरा बड़े आदर और विनय के साथ पति की परिचर्या में रहती और साथ ही नियमपूर्वक प्रभु की उपासना भी किया करती।

प्रभु जिसे अपनाते हैं, उसके सारे अन्य बन्धनों और सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। जब तक जीव संसार में किसी का भी आसरा-भरोसा रखता है तब तक वह प्रभु के आश्रय से वञ्चित ही रहता है। हम सर्वथा प्रभु के हो जायँ, इसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि संसार में भिन्न-भिन्न सम्बन्धों को लेकर जो हमारा अनुराग है, वह सिमटकर प्रभु में केन्द्रीभूत हो जाय, घनीभूत हो जाय! जो प्रेम प्रभु के चरणों में निर्माल्य हो चुका है, उसमें साझीदार संसार का कोई भी प्राणी कैसे होगा? मीरा का दाम्पत्य जीवन अभी पनप ही रहा था कि पतिदेव चल बसे। अब तो मीरा की जीवन-धारा एकबारगी पलट गयी। संसार के सभी सम्बन्ध हटाकर वह एकान्तभाव से श्रीगिरधर-लालजी की सेवा में रहने लगी।

लोक-लाज और कुल की मर्यादा को अलग कर मीरा अपने प्राणाराध्य की साधना में अहर्निश लगी रहती। प्रेम की अजस्र धारा में लोक-लाज कैसे टिक सकती? मीरा को तो कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा है। उसके यहाँ अब बराबर साधुओं की भीड़ लगी रहती। भगवत्-चर्चा के सिवा अब उसे करना ही

क्या रह गया! श्रीगिरधर गोपालजी की मूर्ति के सामने मीरा नाचा करती और संतों की मण्डली जमी रहती! घरवालों को भला यह बात कैसे पसंद आती? राणा साँगा की मृत्यु हो चुकी थी और इस समय मीरा के देवर विक्रमाजीत सिंहासन पर थे। उनसे मीरा की ये 'हरकतें' देखी न गयीं। उन्होंने मीरा को मार डालने की कई तदबीरें सोचीं; परन्तु जिसकी रक्षा स्वयं परमात्मा कर रहा है उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है! विष का प्याला भेजा। मीरा उसे अपने प्राणप्यारे का 'चरणामृत' समझकर पी गयी! विष भी अमृत हो गया! जिसके अनुकूल स्वयं प्रभु हैं, उसके लिये तो संसार की सारी प्रतिकूलता अनुकूल है ही। पिटारी में साँप भेजा गया। मीरा उसे खोलती है तो देखती है कि शालग्रामजी की मूर्ति है। मीरा ने उसे छाती से चिपका लिया—प्रेमाश्रुओं से नहला दिया!

सखी मेरो कानूड़ो कलेजे की कोर।
मोर मुकुट पीतांबर सोहै कुंडल की झकझोर॥
वृंदावन की कुंज गलिन में नाचत नंदकिसोर॥

परीक्षा की इति यहीं तक नहीं थी। मीरा प्रतिदिन अधिकाधिक खुलकर साधु-महात्माओं में रहने लगी और रात-दिन हरि-चर्चा तथा कीर्त्तन के सिवा उसे कुछ सुहाता ही न था। मीरा ने यह निश्चय कर लिया कि जितने छन शरीर में प्राण रहेंगे, उतने छन हरि-गुणगान में ही बीतेंगे। प्राण छूट जायँ—भले ही छूट जायँ, पर कीर्त्तन कैसे छूटता! सास ने बहुत मना किया, बहुत समझाया-बुझाया; परन्तु यहाँ तो प्रेम की वेदी पर सर्वस्व निछावर हो चुका था!

मीरा की एक ननद थी, जिसका नाम था ऊदा। उसने भी मीरा को 'राह पर लाने' की बहुत चेष्टा की; परन्तु मीरा

का मन तो मोहन के चरणों में बिक चुका था! ऊदा से अपनी हार सही न गयी। उसने एक षड्यन्त्र रचा। विक्रमाजीत से जाकर उसने कहा कि मीरा आधी रात को द्वार बन्द कर और दीपक जलाकर किसी पुरुष से प्रेमालाप करती है। वह पुरुष नित्य मीरा के पास आधी रात को पैरों की चाप छुपाये धीरे-धीरे आता है। उसने राणा से यह भी कहा कि यदि उसे विश्वास न हो, तो स्वयं आकर देख ले। राणा के क्रोध का अब क्या ठिकाना! चेहरा तमतमा उठा। वह अभी मीरा का सिर धड़ से अलग करने के लिये तलवार लेकर दौड़े!

भादों के कृष्णपक्ष की आधीरात है। मेघ झमाझम बरस रहा है और बिजली कड़क रही है—परन्तु उस मेघ से भी अधिक बरस रही हैं वियोगिनी मीरा की दो करुणाविगलित आँखें; उस बिजली से भी अधिक कड़क रहा है उसका दर्द-भरा दिल—साँवरे के विरह में तड़पता हुआ पागल विह्वल हृदय! संसार सुख की नींद सो रहा है; परन्तु वियोगिनी की आँखों में नींद कहाँ, विश्राम कहाँ, शान्ति कहाँ! मीरा ने श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति के पास दीपक जला दिया है और अगर की सुगन्धि से सारा कमरा गम-गमा रहा है। मीरा ने पहले हृदयेश्वर के मस्तक पर रोली लगायी और फिर वही प्रसाद अपने सिर-आँखों से लगाया। नववधू के रूप में सजी हुई है। वह एकटक अपने प्राणाधार को देख रही है, देखते-देखते क्या देखती है कि उस मूर्ति में से उसके हृदयेश्वर निकलते हैं, मन्द-मन्द मुसकाते हुए मीरा का आलिङ्गन करने के लिये आगे बढ़ते हैं—मीरा प्रेम के इस अवहनीय भार को कैसे सँभालती! मिलन की सुख-धारा में बह चली। मीरा ने मिलने के लिये अपने मस्तक को आगे बढ़ाया; परन्तु संज्ञाहीन होकर वह गिर पड़ी, प्रभु के चरणों में गिर पड़ी। उसके संज्ञाहीन

प्राणों ने अपने भीतर देवता के परम शीतल अथच मधुर-मधुर स्पर्श का अनुभव किया ! वह कोमल, पावन, दिव्य स्पर्श !! वह प्रगाढ़ मधुमय प्रणयालिङ्गन !

'वह' आया तो प्राण मिलन-सुख के भार को सह न सके और अब जब प्राणों में संज्ञा लौट आयी है तो उसका ही पता नहीं। आँखें खुलीं। मीरा के प्राण अब भी स्पर्श के आनन्द में बेसुध थे ! आँसुओं में सनी हुई वेदनाविगलित वाणी कुछ अस्पष्ट, कुछ अस्फुट स्वयं निकल रही थी·········आह ! एक क्षण और ठहर जाते ! कई जन्मों से तुम्हें ढूँढ़ती आ रही हूँ। प्राणों का दीप जलाकर संसार का कोना-कोना छान आयी। तुम्हारा पता किसी ने नहीं बताया। आज बड़ी दया की। अह ! वह छवि !

निपट बंकट छवि अटके

मेरे नैना निपट बंकट छवि अटके ॥

देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो अलि सुगंधरस अटके ॥
टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी, गिरधर नागर नट के ॥

अह ! भर आँख अभी तो देख भी नहीं पायी थी। कहाँ छिप गये, कहाँ खिसक गये ? तुम्हारा वह मन्द-मन्द मुसकाना······वे बड़ी-बड़ी पागल बनानेवाली आँखें, वह केसर-तिलक, लहराती हुई अलकावलि और उसपर तिरछा-बाँका मोर-मुकुट ! अह ! यदि ऐसे ही छिपना था तो छिपे ही रहते ! इस प्रकार तरसा-तरसाकर प्राणों को तड़पाने की यह कौन-सी विधि सोच रखी है ! जीवनधन ! आओ, मैं तुम्हें प्राणों के भीतर छिपा लूँ—

मैं अपने सैंया सँग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट है नाची ॥

अचानक दरवाजे फट पड़े और राणा विक्रमाजीत नंगी तल-वार लिये, क्रोध में तमतमाये भीतर घुस आये ! उन्होंने देखा कि श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति के सामने मीरा हाथ जोड़े अर्द्धमूर्छित दशा में बैठी हुई है और आँखों से आँसुओं की धारा चल रही है। उसने क्रोध में पागल होकर मीरा का हाथ खींचा और क्रोध-स्फीत शब्दों में कहा—'कहाँ है तेरा प्रेमी जिसके साथ तू रातों जागा करती है ? अभी मैं उसका सिर धड़ से अलग किये देता हूँ।' मीरा भावमग्न हो रही थी। उसने अँगुली से श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति की ओर संकेत किया। परन्तु, राणा के लिये तो वह बस एक पत्थर की मूर्त्ति थी ! क्रोध में मनुष्य शैतान हो जाता है, उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। विक्रमाजीत को मीरा की बातों का विश्वास नहीं हुआ। उसने फिर सिंह की तरह गरजते हुए कहा—'अभी ठीक-ठीक बता, तू किससे बातें कर रही थी ? नहीं तो आज तेरे ही रक्त से इस तलवार की प्यास बुझाऊँगा।' मीरा डरती क्यों ? जिसे परमात्मा का बल प्राप्त है, संसार उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। मीरा ने दृढ़तापूर्वक कहा—'सच मानो, यही मेरा चितचोर प्राणधन है। इसी के चरणों में मैंने अपने को निछावर कर दिया है·········अभी देखो, देखो, खड़े-खड़े मुसका रहा है। एक क्षण भी तो नहीं हुआ वह आया था। अह ! वह रूप ! उसने मुझे अपने आलिङ्गन-पाश में बाँधने के लिये ज्यों ही बाहें बढ़ायीं, त्यों ही मैं अभागिनी······उफ् !! मत पूछो ! उस अपरूप रूप को देखते ही मेरी आँखें झँप गयीं—मैं संज्ञाहीन होकर गिर पड़ी। वह धीरे-धीरे मुरली बजाकर मेरे प्राणों में गा रहा था। अह ! वह शीतल स्पर्श ! वह जगत् का स्वामी अनादिकाल से चित्त चुराता आया है और यही उसकी बान पड़ गयी है। उसने प्रेमस्वरूपा गोपियों का हृदय चुराया !

इतने से ही उसका जी न भरा ! वे जब स्नान कर रही थीं, उसने उनके वस्त्र भी चुरा लिये। मैं तो अपने प्राण उसके हाथों बेंच चुकी ! वह भला इसे क्यों लौटाने लगा ! देखो ! देखो ! वह अपनी शरारतपर स्वयं मुसका रहा है। देखो, देखो, वह सलोनी साँवरी सूरत देखो ! प्राण, मेरे पागल प्राण ! आओ, खुलकर आओ, आवरण हटाकर आओ ! संसार में मेरा तुम्हारे सिवा और है ही कौन ? आओ, प्राण ! मुझे अपने में डुबा लो, एक कर लो—

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी।

नाच-नाच पिय रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन को जाँचूँगी ॥
लोक-लाज कुल की मरजादा यामें एक न राखूँगी।
पिय के पलँगा जा पौढ़ूँगी, मीरा हरिरँग राचूँगी ॥

गाते गाते मीरा मूर्च्छित हो गयी। विक्रमाजीत किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये। ऊदा और अन्य लड़कियाँ जो कमरे में आयी थीं, मीरा के इस दिव्य प्रेम को देखकर अवाक् हो गयीं। ऊदा मीरा के चरणों में गिरकर रोने लगी। अपने किये पर उसे बड़ी ग्लानि हुई।

मीरा की भक्ति-सुरभि दिग्-दिगान्तर में फैलने लगी और लोग उसके दर्शनों के लिये स्थान-स्थान से आने लगे। राजमहल में बराबर लोगों की भीड़ देखकर विक्रमाजीत से सहा नहीं गया। मीरा को राज-पाट और लोक-लाज से क्या करना था। वह सब कुछ छोड़-छाड़कर वृन्दावन चली। वृन्दावन पहुँचकर मीरा का बस एक ही काम था—मन्दिरों में प्रभु की मूर्ति के सामने कीर्त्तन करना। प्रेम की इस पुतली को जो भी देखता, वही श्रद्धा और भक्ति से सिर झुका लेता ! वृन्दावन में पहुँचकर मीरा को ऐसा लगा, मानो वह अपने 'घर' आ गयी है। वहाँ के एक-एक वृक्ष, लता-पत्ता से उसका पूर्व परिचय था। वृन्दावन तो उसके जन्म-जन्म के

'साथी' का देश था। ब्रज की माधुरी पर मुग्ध होकर मीरा ने अपने प्रेम-भरे उद्‌गार प्रकट किये—

या ब्रज में कछू देख्यो री टोना ॥
ले मटुकी सिर चली गुँजरिया आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना ।
दधि को नाम बिसरि गया प्यारी 'ले लेहु री कोई श्याम सलोना' ॥
वृन्दावन की कुंजगलिन में आँख लगाय गयो मनमोहना ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुंदर स्याम सुधर रस लोना ॥

वृन्दावन में मीरा के आनन्द का पारावार उमड़ आया। मीरा ने पैरों में घुँघरू बाँधे, हाथ में करताल ली और माँग में सिंदूर भरकर श्रीहरि की आरती के लिये चली। उस प्रेम-दीवानी अल्हड़ तपस्विनी ने देखा—सामने प्रभुजी की त्रिभुवन-मोहिनी मूर्ति मुसका रही है, वही मोरमुकुट, वही मुरली और वही पीताम्बर! मीरा ने आरती की थाली में से रोली उठायी और प्रभुजी के मस्तक पर लगाने ही जा रही थी कि आँखें प्रेम से मुँद गयीं, उनमें आँसू भर आये। वह देखती है कि आँसुओं की गङ्गा-जमुना में भी हरिजी की मूर्ति केलि कर रही है। हाथ की रोली हाथ में ही लिये रही—बड़ी विचित्र दशा है। आँखें बन्द करती है तो हृदय के मन्दिर में हरिजी विराज रहे हैं, आँखें खोलती है तो आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें—सर्वत्र गोपाल-ही-गोपाल हैं। जकी ठगी-सी विमुग्ध खड़ी है, कुछ कहते नहीं बनता। कैसे आलिङ्गन करे, कैसे रोली लगाये!

कर्पूर का दीपक लेकर वह आरती करने चलती है—कठिनाई से एक बार वह दीपक का थाल घुमा पाती है कि उसकी दृष्टि प्रभु के मोरमुकुट पर अटक जाती है; दीपक का थाल लिये वह विमूढ़-सी खड़ी रहती है। प्रार्थना के शब्द—'तुम स्वामी मेरे······'का प्रवाह चल रहा है। वाणी गद्‌गद है, नेत्र अश्रुपूर्ण, हृदय हरिमय,

प्राण-प्राण में, रोम-रोम में श्रीगिरधरलालजी छाये हुए हैं। समस्त विश्व केवल कृष्णरूप हो रहा है। कृष्ण के सिवा कुछ है ही नहीं—मीरा स्वयं कृष्ण हो रही है। उसे अपनी आँखों पर सहसा विश्वास नहीं होता। ऐसा भासता है, मानो वह स्वप्न-लोक में विचर रही है। प्रीतम के मिलन का जो आनन्द है, वह शब्दों में लिखा नहीं जा सकता! कोई कहना चाहे भी तो कैसे कहे?

आधी रात हो रही है और मीरा की आरती का उपक्रम समाप्त नहीं हुआ। कभी वह आँसुओं से प्रीतम के पाँव पखारती है, कभी श्रीगिरधरलालजी की मूर्ति को छाती से लगाकर उनकी आँखों पर अपने अधरों को रख देती है। कभी उनके चरणों को जोर से अपनी छाती में बाँध लेती है और कभी उपालम्भ के मीठे ताने सुनाती है—

स्याम म्होंसो ऍंडो डोले हो।
औरन सूँ खेले धमार म्हासों मुखहुँ न बोले हो॥

× × ×

वह प्रेम क्या जो अघाना जाने; वह भक्ति क्या जो समस्त विश्व को अपने प्रभु में लय न कर दे; वह साधना क्या जो संसार के इस सघनपटल को हटा कर अपने प्राणेश्वर को प्रतिपल अखण्ड-रूप से न देखे! वह भक्त क्या, जो सर्वत्र और सर्वदा केवल अपने उपास्यदेव को न देखे। बीच का पर्दा हटा देने पर रह ही क्या जाता है? संसार कहता है मैं बना रहूँगा; भक्त कहता है मैं तुम्हें मिटा कर ही छोड़ूँगा, और जीत भी भक्त की ही होती है। कितनी सुन्दरता से भक्त इस संसार को मिटाता है! वह संसार से द्वन्द्व नहीं छेड़ता। वह जगत् से लड़ने नहीं जाता। वह तो अपने भीतर प्रवेश कर, अपने हृदय का पट हटा कर अपने 'प्रीतम' की झाँकी पा लेता है। वह झाँकी उसकी आँखों में, उसके

रोम-रोम में उतर आती है, अब वह इन आँखों से जो कुछ देखता है सब केवल कृष्ण-ही-कृष्ण होता है। यह संसार उसके सम्मुख 'संसार' नहीं रह जाता। यह तो प्रभु का मङ्गलमय परम मनोहर दिव्य विग्रह हो जाता है। जगत जब सर्वत्र प्रभुमय हो गया, तो इसका अपना आकर्षण, अपना सम्मोहन कैसा ? इसीलिये कहा जाता है कि भक्त के सामने संसार का जादू नहीं चलता।

आधी रात हो रही है और मीरा पूजा में संलग्न है। बाहर का द्वार बंद है। दीपक जल रहा है। प्रभुजी की मूर्ति सामने विहँस रही है। नववधू की भाँति मीरा ने लाल रेशमी साड़ी पहन ली है और माँग में सिंदूर भर लिया है। हाथों में करताल है और पैरों में घुँघरू। प्रेम-विभोर होकर मीरा नाच रही है—

मीरा नाची रे,

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।

मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गयी दासी रे॥

संकीर्त्तन की इस धुन में समस्त विश्व लय हो रहा है। मीरा के घुँघरू और करताल माधव के नूपुर और मुरली में मिलकर एक अपूर्व मादक सङ्गीत की सृष्टि कर रहे हैं। मीरा नाच रही है और इस पगली भक्तिन के साथ प्रभुजी भी नाच रहे हैं। मीरा की बंद आँखें हरिजी के रूप-रस का पान कर रही हैं, हृदय कृष्ण के चरणों में लोट रहा है। प्राणों की झङ्कार नूपुर की रुनझुन में लय हो रही है। रोम-रोम से हरि हरि !! इस समय संसार नहीं है। इस विराट रास में केवल कृष्ण-ही-कृष्ण हैं। फिर इसमें 'लोग कहें बिगड़ी' की क्या चिन्ता ? अपने प्राणाधार से क्या लज्जा, क्या दुराव, क्या पर्दा ? उससे क्या छिपाना जो हृदय का अधीश्वर है, प्राणों का पति है, जीवन का सर्वस्व है ? वहाँ तो सर्व-शून्य होकर, निरावरण होकर हृदय का पुष्प सर्वतोभावेन

प्रभु के चरणों में समर्पित करना होता है। जो हृदय के भीतर बस रहा है, उससे क्या छिपाया जाय! श्रीकृष्णार्पण इसी को कहते हैं।

प्रेम की चोट बड़ी करारी होती है। वही इसे जानता है जिसका हृदय प्रेम के बाणों से बिंधा हो। शब्दों में इसका वर्णन कोई करना भी चाहे तो क्या करे। आशा और प्रतीक्षा—प्रेमियों के हिस्से येही पड़ी हैं। मिलन की आशा और प्राणाधार की प्रतीक्षा! कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमाधार पूर्णतः पकड़ में आ गया, परन्तु प्रेमास्पद की लुका-छिपी! अह! कितनी आकर्षक, कितनी मधुर है। श्यामसुन्दर पर मीरा की लुभाई हुई दृष्टि जाती है—

नैणा लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रोम-रोम नख-सिख सब निरखत ललकि रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी घर आपणे री मोहन निकसे आय।
बदन चंद परकासत हेली मंद-मंद मुसकाय॥

मैं अपने आँगन में खड़ी थी। सामने से श्यामसुन्दर निकले। आँखें हठात् उनपर जा पड़ीं, रोम-रोम उसे निहारने लगा। वह छवि हृदय को कितनी शीतल, कितनी मधुर प्रतीत होती है। हृदय में अमृत झरने लगा। उनके मुखचन्द की द्युति और मन्द-मन्द मुसकान हृदय में बरबस घर किये लेती है। मीरा अपने भीतर यह दृढ़तापूर्वक अनुभव करती है कि उसने गिरधरलालजी को पूरी तरह अपना लिया है, उन्हें मोल ले लिया है, वे अब मीरा के हृदय-देश में बन्दी हैं—

माई री मैं तो गोविंदो लीनो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै चौड़े लीनो री बजंतों ढोल॥

मैंने डंके की चोट गोविन्द को मोल ले लिया। लोग चाहे जो

कहें, मैंने तो उन्हें रूबरू देख लिया, अपना लिया—अपने हृदय के अन्दर कैद कर लिया! मीरा की आँखों में, हृदय में, प्राण में, रोम-रोम में जिस त्रिभुवन सुन्दर की मोहनी मूर्ति बसी हुई है, उसकी झाँकी लीजिये—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल ॥
मोहनी मूरत-साँवली सूरत नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजंती माल ॥
छुद्रघंटिका कटितट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगतबछल गोपाल ॥

ऐसे प्रीतम को एक बार पाकर फिर कैसे छोड़ा जाय? आओ, हम सब मिलकर इन्हें बाँध रक्खें और नैनों से इनका रूप-रस पीते रहें। जितने क्षण प्राण रहें, श्यामसुन्दर को सामने देखते रहें। इन्हें देखकर ही हम जियें। यदि उन्हें आँखों से ओझल ही होना है, तो अच्छा है कि हमारे प्राण न रहें, हम न जियें। प्रीतम जिस वेष को धारण करने से मिले, वही करना उचित है। वही वास्तव में बड़भागिन है जिसका हृदय मदन-मोहन पर निछावर हो चुका है।

In my eyes in my heart
Thou art O Beloved!
So much thou art and so always,
That whatever I see looming in the distance
I think it is Thou coming to me.

प्रभु को भक्त जितना ही अधिक पकड़ता जाता है, उतनी ही दृढ़ता उसमें आती जाती है और उतने ही अनन्य भाव से वह प्रभु का और प्रभु उसके होते जाते हैं। हृदय की बहुत ऊँची अनन्यशरणागति ही मीरा से कहला रही है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ॥
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई ।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई ॥

एक बार यदि वह मूर्ति हृदय में उतर आयी और हृदय उसके रंग में रंग गया, तो फिर क्या कहना! आँसुओं के जल से सींची हुई प्रेम की लता जब फैल उठी, तो उसमें फिर आनन्द के फल आने लगे। आनन्द के सिवा रह ही क्या गया! अब तो एक क्षण के लिये भी 'उसे' छोड़ते नहीं बनता—

पिया म्हारे नैणाँ आगे रहज्यो जी।
नैणाँ आगे रहज्यो जी, म्हाँने भूल मत जाज्यो जी ॥

विरह ही प्रेम का प्राण है। मिलन में प्रेम सो जाता है वही विरह में जग जाता है। विरह में सारी सृष्टि प्रेमपात्र की प्रतिमूर्ति बन जाती है। सब कुछ उसी 'एक' का सन्देश लानेवाला बन जाता है। मीरा का विरह अपने ढङ्ग का अकेला ही है। अपने प्राणवल्लभ के लिये हृदय में अनुभव की हुई टीस को प्रेम लपेटे अटपटे छन्दों में अल्हड़ प्रेमसाधिका मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हलका किया है। मीरा का दुःख एक आतुर भक्त का दुःख है, प्रेमविह्वल साधक का दुःख है, एक प्रेमी का दुःख है, कवि का दुःख नहीं। मीरा का दुःख उधार लिया हुआ नहीं है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व-समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। शब्दों से उस दुःख को नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवगम्य है।

मैं बिरहिण बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली ॥
बिरहिन बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
एक बिरहिण हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवै ॥

तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिलके बिछुड़ न पावै॥

अपनी दुर्बलता और प्रेम-पथ की कठिनाइयों की ओर जब ध्यान जाता है, तो कभी-कभी जी घबड़ा उठता है और निराशा-सी हो आती है—

गली तो चारों बन्द हुई हरी सूँ मिलूँ कैसे जाय।
ऊँचो-नीची राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय॥

इस निराशा में तो बस, प्रभु की दया का ही भरोसा है। वही दया कर उबारे तो उबरने की कुछ आशा है, नहीं तो……!!

सजन सुध ज्यों जानो त्यों लीजै।
तुम बिन मेरो और न कोई कृपा रावरी कीजै॥
दिवस न भूख, रैन नहिं निंदिया, यों तन पल-पल छीजै।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहिं दीजै॥

आँखों को कौन मनावे, हृदय को कौन समझावे? एक क्षण भी श्यामसुन्दर के बिना इनका टिकना असम्भव है। ये तो हाय-हाय कर जीवन-सर्वस्व के लिये तड़प रही हैं—

आली री मेरे नैनन बान पड़ी॥
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी॥

लोग 'बिगड़ी' कहें अथवा 'बनी', इससे मीरा का क्या बनता-बिगड़ता है। वह तो गिरधर गोपाल के हाथों बिक चुकी है। उसी की मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई है। कृष्ण ही उसका जीवन, कृष्ण ही उसकी मृत्यु है; कृष्ण ही उसका स्वर्ग, कृष्ण ही उसका अपवर्ग है। कृष्ण के सिवा उसके लिये लोक-परलोक कुछ

है ही नहीं। विरह की इस तीव्र वेदना के साथ मिलन की उत्सुक प्रतीक्षा तथा आकुल उत्कण्ठा भी कम नहीं है। प्रेम में विरह और मिलन लिपटे सोते हैं। मिलन की झाँकी लीजिये। रात का समय है। पानी बरस रहा है। मेघों ने हरिजी को मीरा के घर में रोक रखा है। वे अब बाहर जाते भी कैसे? मीरा के घर में गिरधरलालजी बंद हैं। मीरा अपने प्राणधन को पाकर प्रेमानन्द में बेसुध है। वह भावावेश में गा उठती है—

नंदनँदन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई॥
इत घन लरजे, उत घन गरजे, चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिस से आया पवन चलै पुरवाई॥
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणाई।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कँवल चित लाई॥

वृन्दावन में बहुत समय तक रहकर मीरा द्वारका पहुँची और वहाँ श्री रणछोड़जी के मन्दिर के सामने कीर्त्तन किया करती। भक्तों की वही अपार भीड़ और मीरा का वही प्रेमाविष्ट कीर्त्तन और नृत्य!! मीरा जब हाथ में करताल लेकर नाचने लगती, उस समय समस्त प्रकृति रास के आनन्द में उन्मत्त होकर थिरकने लगती। मीरा तो कृष्ण की प्राणप्रिया सखी थी—उसके आनन्द को बढ़ाने के लिये हरि स्वयं उतर आते और मीरा के साथ-साथ समस्त भक्तमण्डली कृष्णमिलन के रस में, प्रभु के मधुर आलिङ्गन-रस में सराबोर हो जाती।

आज मीरा का प्रयाण-दिवस है। आज प्रभु की यह प्रेम-पुतली अपनी आनन्द-लीला संवरण कर हरि में एकाकार होनेवाली है। आखिर यह द्वैत, यह अन्तर वह कब तक सहन करती! आज रणछोड़जी का मन्दिर विशेष रूप से सजाया गया है। एक अपूर्व गम्भीरता का साम्राज्य है! मीरा प्रेमानन्द में बेसुध है।

आज उसकी तपस्या पूरी होनेवाली है। आज उसने पुनः नववधू का वेश धारण किया है। लाल रेशमी साड़ी पहन ली है। माँग में सिंदूर भर ली है। पैरों में घुँघरू बाँध लिया है! आज मीरा की जो प्रेम-सेज सजी है, उसकी सुन्दरता का क्या कहना। आज तो सूली ऊपर जो पिया की सेज बिछी है, उसी पर जाकर मीरा अपने प्राणेश्वर के साथ पौढ़ेगी। प्रीतम की अटारी पर आज मीरा सुख से सोयेगी—

ऊँची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सोहै फूलन फूल कली।
बाजूबंद कड़ूला सोहै माँग सिंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भली।
सेज सुखमणाँ मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी॥

आज रणछोड़जी के मन्दिर की एक अपूर्व छटा है। मीरा सज-धजकर आज महामिलन की तैयारी में आयी। आज उसके स्वर में एक अपूर्व करुणापूर्ण मादकता है। आज वह गाती है और धीरे-धीरे अपने को हरि में एक करती जाती है। वह मूर्छित होकर गिर पड़ती है और लोग उसके चरणों को चूमने लगते हैं। सारा मन्दिर अचानक तेजोमय हो जाता है। मीरा उठती है और रणछोड़जी की मूर्ति अपना हृदय खोलकर उसे अपने भीतर ले लेती है। मीरा माधव में मिलकर एक हो जाती है। भक्तमण्डली निर्निमेष दृष्टि से यह सब देखती रह जाती है। मीरा सदा के लिये हमारी स्थूल आँखों से ओझल हो जाती है!

सहजो का स्मरण

She spent whole nights in prayers, oft repeating: Lord what will thou have me to do? And being one night in a most profound penitence, she said from the bottom of her heart. 'O my Lord! What must I do to please thee? Speak to my soul and it will hear thee.' And at that instant she heard, as if another had spoken within her: Forsake all earthly things. Separate thyself from the love of the creatures. Deny thyself."

—Antoinette Bourignon.

जीवन-पथ में प्रतिपल 'साजन' की झलक मिलती रहे, सदा सदैव 'उसका' स्मरण होता रहे, मन उसकी मूर्ति में मस्त रहे, हृदय उसी के रंग में रँगा रहे और वाणी उसीके रस में पगी रहे;

यही बार-बार, भिन्न-भिन्न प्रकार से संत-महात्माओं ने बतलाया है। मन को परमात्मा के चरणों में बाँधकर भगवत्सेवा तथा श्रीकृष्णार्पण बुद्धि से संसार के कर्म करते रहना यही महात्माओं के उपदेश का सार है। भगवान् की पूजा प्राणों की गति के साथ मिलकर एक हो जाय, प्राणों में हरि की अविराम क्रीड़ा होती रहे—हरि ही दिखे, हरि ही सुने, हरि ही बोले। अन्यथा कुछ हो वे ही नहीं, तार टूटे ही नहीं--बस, तेल की धारा के समान स्मरण का अखण्ड आनन्द बना रहे। कबीर, दादू आदि संतों ने हमें यही चिताया है, बार-बार यही आदेश किया है।

सहजोबाई महात्मा चरनदासजी की शिष्या थीं और लगभग १८०० वि० संवत् में वर्त्तमान थीं। इनकी गुरु-बहिन दयाबाई भी बहुत प्रसिद्ध और ऊँची आत्मा थीं। सहजो और दया की जोड़ी भक्ति-संसार में बेजोड़ है, अद्वितीय है। आज तो केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी प्रेमी भक्त महानुभाव सहजो और दया से परिचित हैं और भक्ति के साथ इनकी स्मृति में सिर झुकाते हैं। इनके उपदेशों के अनुसार जीवन बिताने की चेष्टा करते हैं और उसमें प्रभु की प्रेरणा तथा उत्साह का अनुभव करते हैं। स्मरण की लौ के संबंध में सहजो ने जो कुछ भी कहा है, वह मधुर अनुभूति के रस से ओत-प्रोत है और वह वास्तव में हमें हरि के पथ में एक विचित्र प्रेरणा तथा आनन्द प्रदान करता है।

एक बात पहले जान लेना आवश्यक है कि चरणदासी पंथ में साधन के लिये गुरु की अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि गुरु के सिवा इस महा अन्धकार-भरे संसार में प्रभु का पथ कोई बतला ही नहीं सकता। गुरु तो 'वहाँ' जाकर आया है, गुरु ने भगवान् के दर्शन प्राप्त कर उस आनन्द को संसार में बाँटने के लिये, हमारी उन्नति और उद्धार के लिये हम पर दया की है। अतएव,

सबसे पहली बात जो साधक के लिये अनिवार्य है, वह है—श्रीगुरु चरणों की शरण।

> गुरु-मग दृढ़ पग राखिये, डिगमिग डिगमिग छाँड़।
> सहजो टेक टरै नहीं, सूर सती ज्यों माँड़॥

श्रीगुरु-निर्दिष्ट मार्ग में दृढ़तापूर्वक कदम रखे, रंच-मात्र भी अविश्वास न आने पावे। डगमगाना छोड़कर गुरु के चरणों का अनुसरण करे। गुरु के हाथ में अपना हाथ दे दे, गुरु के अधीन अपना जीवन सौंप दे और गुरु जैसे चाहें वैसे इस जीवन को बनावें। जिस प्रकार सती अपने पति का पथ नहीं छोड़ती, उसी प्रकार गुरु का पथ भी छोड़े नहीं। गुरु के चरणों का जहाँ सुदृढ़ अनुसरण है, वहाँ काम, क्रोध, लोभ आदि की एक भी नहीं चलती। इस महा अन्धकारपूर्ण संसार में गुरु के चरण-नख की द्युति ही एकमात्र परम प्रकाश है। गुरु-चरणों के स्पर्श से महा मलिन हृदय भी निर्मल हो जाता है। गुरु की सहज अनुकम्पा से सब कुछ साध्य है, सुलभ है—

> चिंउटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।
> सहजोकूँ वा देश में, सतगुरु दई बसाय॥

श्रीगुरु-मुख से निकला हुआ 'नाम' ही ऐसा पारस है जिसके स्पर्श में आते ही हमारा लोह-हृदय सोना बन जाता है, जन्म-जन्म की काई धुल जाती है, पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, भुक्ति-मुक्ति की कोई चाहना नहीं रह जाती। 'नाम' की प्राप्ति ही अत्यंत दुर्लभ है। जिसने नाम-रतन धन पा लिया, उसने सब कुछ पा लिया; उसे अब कुछ भी पाना नहीं रह गया। यह 'नाम' ही श्रीगुरु-चरणों की असीम अनुकंपा का एकमात्र परम दिव्य प्रतीक है। इस संसार में ऊपर से घोर अंधकार की अजस्र वर्षा हो रही है, विषयों की बरसात आ गयी है और सभी नदियाँ उमड़ चली हैं।

इससे पार लगानेवाला और प्रीतम के महल में पहुँचानेवाला एकमात्र साधन 'नाम' ही है—

सहजो भवसागर बहै, तिमिर बरस घनघोर।
नामैं नाम जहाज है, पार उतारै तोर॥

उस पारस मणि 'नाम' को प्राणों में जुगोकर रखे, एक क्षण के लिये भी वहाँ से दृष्टि हटने न दे। उसकी बराबर रखवाली करता रहे, सहेजता रहे, उसे बचाये रखने के लिये सदा जागता रहे, चूके नहीं—

जागत में सुमिरन करै, सोवत में लौ लाय।
सहजो इकरस ही रहै, तार टूटि नहिं जाय॥

जागते समय तो उसी 'नाम' की थाती का स्मरण करता रहे और सोते हुए मन में लौ लगी रहे, प्राण वहीं अँटके रहें। अहर्निश एक रस, बस, बराबर अविच्छिन्न नाम-स्मरण होता रहे, कहीं एक पल के लिये भी तार टूटे नहीं। यह स्मरण जीवन का परम मधुर व्यापार है, प्राणों की परम गोपनीय क्रीड़ा है—इसका रस भीतर ही भीतर पीता रहे, उसी रस में अलमस्त रहे, बाहर वह मस्ती कहीं झलक न उठे, इसकी सावधानी रखे। परम गोपनीय वस्तु को संसार के सामने कैसे रखा भी जाय? वह तो बस, हृदय के भीतर छिपाये रखने की वस्तु है—

सहजो सुमिरन कीजिये, हिरदै माँहि छिपाय।
होठ-होठसूँ ना हिलै, सकै नहीं कोइ पाय॥

होठ भी न हिलें, बस, भीतर ही भीतर रस की धारा बहती रहे और तार बँध जाय, रस में सारे प्राण तैरते रहें, डूबे रहें, भींगे रहें। हृदय के भीतर छिपे हुए हृदयेश को बराबर निहारता रहे और खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, सभी समय, सभी कार्य में उसका स्मरण करता रहे—

बैठे लेटे चालते, खान पान व्योहार।
जहाँ-तहाँ सुमिरन करै, सहजो हिये निहार॥

सहजो ने बार-बार हमें चिताया है कि यह मनुष्य का शरीर परम दुर्लभ, साधन का धाम और मुक्ति का द्वार है। इस देव-दुर्लभ मानव-शरीर को पाकर जो विषयों की सेवा के द्वारा नरक का सामान इकट्ठा करता है, वह मूर्ख है! 'अपना' 'अपना' करते हुए हम दुखों को बटोरने में व्यस्त हैं। एक क्षण के लिये भी हरि-स्मरण का अवकाश नहीं मिलता। स्वार्थ की नींव पर संसार का महल खड़ा है। संसार के सारे नाते स्वार्थ को लेकर ही हैं। घर के स्वजन या संसार के मित्र साथ क्या देंगे—साथ देनेवाली तो अपनी यह काया भी नहीं है—

सहजो भज हरि नाम कूँ, तजो जगत सूँ नेह।
अपना तो कोइ है नहीं, अपनी सगी न देह॥

यही कही गुरु देव जू, यही पुकारैं संत।
सहजो तज या जगत कूँ, तोहि तजैगो अंत॥

रे मन! इस पारस मणि 'नाम' को पाकर यदि तू सँभाले न रहा, तो साँस निकल जाने पर सिर पीटेगा! संसार की यह धारा तो अगम है, अपार है, करोड़ों-अरबों आये और बह गये, यह धारा एक क्षण के लिये भी ठहरती नहीं। इसमें कोई भी अपना सच्चा संगी-साथी नहीं है, एकमात्र हरि के स्मरण का आधार है—

सहजो फिर पछितायगी, स्वास निकसि जब जाय।
जब लगि रहे सरीर में, राम सुमिरि गुन गाय॥

सहजो नौबत स्वास की, बाजत है दिन रैन।
मूरख सोवत है महा, चेतन कूँ नहिं चैन॥

यह रस्ता बहता रहै, थमैं नहिं छिन एक ।
बहु आवैं बहु जातु हैं, सहजो आँख न देख ॥
जग देखत तुम जावगे, तुम देखत जग जाय ।
सहजो योंही रीति है, मत कर सोच उपाय ॥

'मत कर सोच उपाय' का अर्थ यह है कि सोच न करो, उपाय सोचो। इस मृत्यु से कैसे छुटकारा हो, इसकी तदबीर सोचो, चिंता न करो। पारस मणि 'नाम' तो तुम्हारे हृदय में प्रकाश भरता ही रहेगा। नाम का स्मरण ही हृदय में प्रेम की ज्वाला जलायेगा और प्रेम की यह ज्वाला ही साधना का परम प्राण है। जो प्रभु-प्रेम का दीवाना हो गया, उसका मन चकनाचूर हो गया, हरि-रस में वह अहर्निश छका रहता है; क्योंकि वह सदैव 'प्रभु' को ही देखता रहता है—

प्रेम-दिवाने जे भये, मन भयो चकनाचूर ।
छके रहैं, घूमत रहैं, सहजो देखि हुजूर ॥

बस, यह 'प्रेम' ही तो परम पुरुषार्थ है। इस प्रेम से बढ़-कर कोई वस्तु है ही नहीं। जिसे प्रभु का प्रेम मिल गया, उसे सब मिल गया—कुछ भी मिलना बाकी नहीं रहा। प्रेम की मिश्री भीतर ही भीतर घुलती रहती है और साधक उसी में छका रहता है। कभी हरि की नुकीली आँखें घायल कर गयीं, कभी उसकी अलकों में प्राण बँध गये, कभी उसकी वनमाला में आत्मा गुँथ गयी, तो कभी उसकी मुरली के रव में प्राणों का हाहाकार बज उठा। भक्त कभी हरि के चरण-तल को अपनी छाती से सटा कर उसे बाँध लेता है, कभी उसी की गोद में अपने को डालकर उसे एक-टक देखता रहता है। वह हरि में, उसमें हरि—यह अपूर्व लीला एक अद्भुत उल्लास-तरंग के साथ होती रहती है। एक क्षण के लिये भी इस लीला-विहार का विराम नहीं होता। संसार की दृष्टि

में ऐसे लोग पागल और बहके हुए हैं। सांसारिक पुरुषों की 'बुद्धि' में उन मस्तों का फक्कड़पन कुछ समझ ही में नहीं आता। वे अकबका कर उनकी ओर देखते हैं और खब्त समझकर आंखें फेर लेते हैं—

प्रेम-दिवाने जो भये, कहें बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपके नैन॥

प्रेमी भक्तों की वाणी ही अटपटी होती है, उनके बैन हमारी समझ में क्या आवे? वे तो भीतर ही भीतर अपने प्राणवल्लभ की शोभा को निरख-निरखकर अलमस्त हो रहे हैं—कभी-कभी उस शोभा और आनन्द की झलक मुख पर आ भी जाती है। ये प्रेम-दीवाने क्षण ही में हँसते हैं और क्षण में ही इनकी आँखों से गंगा-यमुना बहने लगती है। बड़ी विचित्र दशा है, वहाँ न हँसना ही है, न रोना ही; हँसना भी है और रोना भी। ऐसे पागलों का साथ संसार स्वयं छोड़ देता है। उनके तो एकमात्र संगी भगवान् हरि रहते ही हैं, उन्हें क्या गरज कि दुनिया के लोगों से यारी जोड़ने जायँ! दुनिया के लोग तो उन्हें देखकर हँसते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में वह 'बावरा' है—

प्रेम-दिवाने जे भये, जाति बरन गइ दूर।
सहजो जग बौरा कहै, लोग भये सब कूर॥

प्रेम की प्रगाढ़ावस्था में नेम-धर्म आप ही छूट जाते हैं। लोग उसे देखकर हँसते हैं, उसकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं और उनका हँसना देखकर वह आप ही आप मुसकाता है—

प्रेम-दिवाने जे भये, नेम धरम गयो खोय।
सहजो नर-नारी हँसे, वा मन आनँद होय॥
प्रेम-दिवाने जे भये, सहजो डिगमिग देह।
पाँव पड़े कितके किती, हरि सँभाल तब लेह॥

सर्वत्र-सर्वदा जब अखण्ड हरिदर्शन होने लगा, जब आँखें खोलने पर दृष्टि जहाँ गयी वहीं हरि मुसकाते हुए दीख पड़ने लगे, तो अपने को कैसे सँभाला जाय? वहाँ तो बस, सब कुछ बेकाबू हुए रहता है। भक्त के चित्त को तो हरि नचा रहा है। जो मन में आता है, उसे जैसे भाता है, वही नाच वह नचाता है; फिर अपने वश में रहा ही क्या? पर उदार हरि उसे प्रतिपल सँभाले हुए हैं, उसे अपनी गोद में छिपाये हुए हैं। भक्त तो एक क्षण के लिये भी माँ कृष्ण की गोद नहीं छोड़ता। ऐसी दयामयी माँ कहाँ मिलेगी? किसे पाने के लिये वह माँ को छोड़े भी? और समर्पण? हरे हरे! समर्पण भी कहीं किये होता है? समर्पण तो प्राणों की एकमात्र स्वाभाविक मधुमती धारा है। समर्पण में जोर नहीं लगाना पड़ता, वह तो सहज ही हो जाता है। पत्नी पति को प्यार करना, पति के चरणों में अपने प्राणों की भेंट चढ़ाना किसी से सीखती है? वहाँ तो प्राणों में जो हाहाकार है, जो अतृप्त ज्वाला है, वह स्वयं उसे हरि के चरणों में चढ़ा आती है।

अहंकार से विमूढ़ मानव ने समर्पण किया तो नहीं, पर उसका ढिंढोरा पीटता फिरता है, मानो उसने हरि को कोई बहुत बड़ी और अनमोल वस्तु भेंट की है। ऐसा मानो हरि के चरण उसके प्राणों की भेंट के बिना सूने थे! जहाँ तक 'मैंने समर्पण किया', ऐसा भाव भीतर बना हुआ है वहाँ तक तो यही समझना चाहिये कि यहाँ अभिमान ही बोल रहा है। समर्पण में यह भाव कभी आता ही नहीं कि मैंने प्रभु के चरणों में अपने को चढ़ाया है। वहाँ तो यही प्रतीत होना चाहिये कि प्राणों ने प्रभु के चरणों की शरण ली है, उसकी अमर शीतल छाया में विश्राम लिया है। हरि के बिना रहा ही नहीं गया; इसीलिये तो उसकी शरण ली।

माँ की गोद में चले जाने पर दो बातें स्वतः हो गयीं—एक तो संसार की झुलसानेवाली ज्वाला से प्राणों को छुटकारा मिला और आत्मा को दिव्य-शान्ति मिली। फिर अब किसी की ओर देखने की इच्छा ही नहीं होती। अब किसी से क्या याचना, संसार में किसी से क्या आशा, किसी का क्या भरोसा ? मेरा मालिक तो हरि है—एकमात्र हरि है जो सब स्वामियों का स्वामी, सब मालिकों का मालिक है। उसकी गोद में जाकर अब किसी के सामने आँचल क्या पसारूँ, हाथ क्यों फैलाऊँ ? जन्म-जन्मान्तरों से जलता-तपता आया था, आज हरि ने बलात् पकड़कर हमें अपनी छाती से लगा लिया और वही हमारा परम उदार हरि अब हमें किसी और की ओर देखने क्यों देगा ? अपने बच्चे को औरों के सामने भीख माँगते माँ कैसे देख सकेगी ? पत्नी को औरों से याचना करते प्राणपति हरि कैसे देख सकेंगे ? बस, अब तो नित-नवीन, प्रतिपल अधिकाधिक प्रगाढ़, अधिकाधिक मधुर आनन्द हरि की गोद में मिल रहा है—

मन में तो आनंद रहै, तन बौरा सब अंग।
ना काहू के संग हैं, सहजो ना कोइ संग॥

मन में आनन्द छाये हुए हैं, रोम-रोम उस प्रेम में छके हुए हैं, इस आनन्द में द्वैत है ही नहीं। न मैं किसी के संग हूँ और न कोई मेरे ही संग है। अब तो प्रति पल हरि का अखंड स्मरण हो रहा है, हरि के सिवा कुछ मन में, चित में, प्राण में, हृदय में आता ही नहीं। हरि में ही डूबकर मौन हूँ, हरि को ही लेकर बाहर आता हूँ और वाणी में हरि की ही बात बोलता हूँ। अपना तो हरि के सिवा कुछ रहा ही नहीं—

कबहूँ हक-धक हो रहैं, उठैं प्रेमहित गाय।

सहजो आँख मुदी रहै, कबहूँ सुधि हो जाय॥

'यत्प्राप्य न किंचिद्वांछति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।'

—नारद भक्तिसूत्र

हरि के स्मरण-रूपी परम प्रेमा भक्ति को पाकर मनुष्य न किसी भी वस्तु की इच्छा करता है, शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे विषय-भोगों की प्राप्ति में उत्साह ही होता है; क्योंकि, इस प्रेम-रस को पीकर, इसे ही देखता है, इसको ही सुनता है, इसको ही वर्णन करता है और इसका ही चिन्तन करता है। इसी बात को सहजो के शब्दों में सुनिये—

सहजो साधन के लिये, मन भयो हरि के रूप।

चाह गयी थिरता भई, रंक लख्यौ सोइ भूप॥

इसे ही राम बादशाह ने अपनी अनोखी मस्ती के राग में गाया है—

मैं पिया! तोरे रंग में समाय रही।

और रंग मोहे काहे प्रिय होवे, प्रीतम रंग में लुभाय रही॥

हरि का स्पर्श पाते ही, उनके स्मरण की दीप्ति हृदय में ऐसी चमकी कि यह मिट्टी की काया दिव्य हो गयी, जन्म-जन्म की पीर मिटी और बाद में उनके अमृत वचन सुनने और उनके परम प्रेम-रस को पीने योग्य मैं हो गयी। इस प्रकार हरि ने स्मरण का आनंद देकर हमें सदा के लिये निहाल कर दिया। इस रस को अब एक पल के लिये भी होठों से हटाया नहीं जाता। बस, भीतर-

बाहर सब कुछ हरि के स्मरण में डूबा हुआ है—प्राणों में सुरत का मेला लगा हुआ है। सुरत की ही झलमल ज्योति चराचर में बिखरी हुई है। पग-पग पर प्रियतम के मधुर, नित-नूतन प्रतिपल अधिकाधिक मधुर दर्शन हो रहा है। हरि ने स्वयं दया करके मेरे इन जन्म-जन्म के विकल प्राणों को अपने आलिंगन में बाँध रक्खा है, स्वयं उसी ने इनका वरण किया है और वेदना का दान देकर, स्मरण का आनन्द देकर, सदा के लिये धन्य कर दिया है। स्मरण में ही प्राण डूबे हुए हैं, अब बाहर क्या आया जाय ?



'दया' की दृष्टि

Reveal Thy presence;
And let the vision and Thy
beauty kill me.
Behold the malady
Of Love is incurable
Except in Thy presence and
before Thy face.

—St. Francis of Assisi

सावन-भादों के महीने में आकाश में उमड़ते हुए सजल श्यामल मेघमाला से जब धीमी-धीमी मृदङ्ग की-सी मद्भरी ध्वनि आने लगती है, समस्त चर-अचर एक दिव्य आर्द्रता में ओतप्रोत हो जाता है—उस समय किसी एकान्त वन के अज्ञात कोने में पंख पसारकर नाचते हुए मोर के आह्लाद को कोई शब्दों में व्यक्त

करना चाहे, तो कैसे करेगा ? बहुत दिनों के बिछुड़े हुए अपने प्रियतम के मनोहर दर्शन और प्यार-भरे आश्वासन की वाणी को सुनकर प्रेमी के प्राण कूक उठते हैं। उधर आकाश में मेघ एक विचित्र ताल-स्वर के साथ गर्जन-तर्जन करता है, इधर मोर हृदय की व्यथा भरी प्रीति में नाच उठता है। इतनी विकल प्रतीक्षा के अनंतर, वैशाख-ज्येष्ठ की लू और ज्वाला को सहने के बाद ही श्यामघन का उमड़ते हुए आना, अपने प्रेमी के प्राणों को स्नेह-वर्षा से जुड़ाना प्रेमियों के लिये कितना बड़ा आश्वासन है। इसी आशा में ये प्राण अटके हुए हैं कि एक न एक दिन 'उनकी' दृष्टि इधर फिरेगी ही, वे ढलेंगे ही; और उस महामिलन के सुख की आशा और प्रतीक्षा में जीवन का यह रेतीला पथ भी कितना सुखकर है! पिय का पंथ चाहे कितना भी लंबा, कंटकाकीर्ण और रपटीला क्यों न हो, उसमें पग-पग पर एक परम दिव्य आनंद की अनुभूति होती है—इस आशा में कि आज न सही कल, कभी-न-कभी प्रियतम के दर्शन तो होंगे ही; मार्ग की कठिनाई की ओर ध्यान जाता ही नहीं।

प्रभु के दर्शन और स्पर्श को पाकर संत महात्मा भी अपने आप को बिसारकर लोक की लाज और परलोक की चिंता छोड़कर, जीव जगत् और माया से परे जाकर अपने हृदय-धन में सर्वथा एकीभूत होकर आनंद-विह्वल दशा में अपने रोम-रोम फैलाकर नाच उठते हैं, कूक उठते हैं—

> पिय को रूप अनूप लखि, कोटि भानु उँजियार।
> 'दया' सकल दुख मिटि गयो, प्रगट भयो सुखसार॥

लोक-रंजन के लिये, लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिये वे वैसा करते हों, ऐसी बात नहीं। जहाँ प्राणाधार हरि के सिवा कुछ रह ही नहीं गया, जहाँ अपनी भी सुधि नहीं है, जहाँ नयनों में निरंतर

नंदलाल बसे हुए हैं, वहाँ 'परोपदेश' की विषैली वासना उगेगी ही कैसे ? वहाँ तो एक अजीब ही अलमस्ती है, विचित्र बेहोशी है—

> 'दया' प्रेम प्रगट्यौ तिन्हैं, तन की तनि न सँभार।
> हरिरस में माते फिरैं, गृह बन कौन बिचार॥
> कहूँ धरत पग परत कहुँ डिगमिगात सब देह।
> 'दया' मगन हरि-रूप में, दिन-दिन अधिक सनेह॥

हरिरस में छके हुए ऐसे अलमस्त प्रेमी संतों को शरीर को सभाल रखना असंभव है। उन्हें घर-वन का कौन-सा विचार है ? पैर कहीं रखते हैं कहीं पड़ता है। देह डगमगा रही है। हरि के रूप का दर्शन, हरि के अंग का स्पर्श, हरि के चरणों का वंदन—इस मधुर प्रक्रिया में प्राण इतने मुग्ध हैं कि अन्यत्र कहीं कुछ देखने-सुनने का अवकाश ही नहीं। प्रतिपल एक नवीन आनंद उमड़-घुमड़कर हृदय में बरस जाता है !

जित देखों तित श्याममयी है !

प्रभु-प्रेम की दीवानी, श्रीहरिचरणों की एकांत अनुरागिणी, प्रेम और वैराग्य की मूर्ति दयाबाई ऐसे ही संतों में हैं जिनके स्मरणमात्र से चित्त की काई धुल जाती है, अंतःकरण निर्मल हो जाता है और हरि के चरणों में प्रीति उमड़ आती है। प्रायः सभ संतों ने 'हरि मोर पिउ मैं हरि की बहुरिया' की मधुर अनुभूति में अपने प्राणों की भूख-प्यास को शांत किया है। वैसा करने के लिये, उस भाव में भावित होने के लिये, सर्वभावेन हरि-चरणों में निवेदित होने के लिये उन्हें साधना के बहुत लंबे मार्ग को तय करना पड़ा है। परंतु, नारी संतों के लिये यह कठिनाई नहीं आती। वे तो जन्म से ही हरि की बहुरिया होती हैं; इसीलिये हृदय की भेंट लेकर भगवान् के चरणों में अर्पित करने में उन्हें

सहज सहायता मिलती है। वास्तव में हमारा पुरुषाभिमान ही हमारी साधना का सबसे बड़ा दोष है। इस झूठे अभिमान का आवरण हटाकर सर्वथा शिथिल होकर जब हम हरि के चरणों में आत्मार्पण के लिये गिरते हैं, तो वह अंतर्यामी प्रभु एक मृदुल मुसकान का दान देकर हमें सदा के लिये स्वीकार कर लेता है। पुरुष होने का अभिमान जब तक पूर्णतः नष्ट नहीं होगा तब तक हमारा समर्पण सर्वांगीण हो नहीं सकता। दया, सहजो और मीरा की साधना इसीलिये सम्पूर्ण समर्पण की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। उन्हें नारी-भाव में भावित नहीं होना पड़ा, उन्हें कुछ और 'बनना' नहीं पड़ा। ये तो उत्सर्ग की, समर्पण की बनी-बनायी मूर्ति ही थीं।

जीवन-चरित्र, आत्मकथा आदि का हमारी भारतीय संस्कृति की परंपरा के साथ मेल नहीं खाता। सूर, तुलसी, कबीर, दादू, मीरा आदि संतों के जीवन के संबंध में उनकी लेखनी से कुछ भी पता नहीं चलता। प्राचीनकाल के ऋषि-महर्षियों से लेकर आजतक के सच्चे संत-महात्माओं के जीवन के संबंध में पूरा-पूरा पता लगाना कठिन ही नहीं, असंभव है। किस सन्-संवत् में जन्म हुआ, कहाँ शिक्षा मिली, माता-पिता कैसे थे, संसार के कौन-कौन-से साधन सहज उपलब्ध थे— ये ऐसी बातें हैं जिनको भारतीय साधना सदा से उपेक्षा की दृष्टि से देखती आयी है। चरित्र अथवा कथा बाह्य वस्तुओं को लेकर तैयार होती है जिसका साधना से कोई संबंध नहीं; और साधन को हमारे यहाँ उतना गोपनीय रखा जाता है जितना संभ्रांत घर की बहू जार के प्रेम को गुप्त रखती है। इस कारण इतिहास के कुतूहल-प्रिय व्यक्ति भारतीय साधना-परम्परा की इस गहरी उपेक्षा से क्षुब्ध भले ही हों; परंतु भारतीय

साधना कभी उनकी माँग के सामने सिर नहीं टेक सकती। हमारी एकांत साधना विज्ञापन और प्रकाशन के भार से बहुत दूर भागती है; उसे हृदय में छिपाये रखने, लोक-दृष्टि से अछूता रखने में ही उसकी वास्तविक शोभा है।

दया के जीवन-चरित्र के संबंध में भी हम कुछ भी पता नहीं लगा सके। लोग इतना ही जान पाये हैं कि दयाबाई महात्मा चरनदासजी की शिष्या, सहजो की गुरु-बहिन, जाति की वैश्य, मेवात (राजपूताना) की रहनेवाली थीं और संवत् १८०० के लगभग वर्तमान थीं। इसके सिवा इनके संबंध में और कुछ भी पता नहीं चलता। दया के दोहों को पढ़कर उनके अद्भुत प्रेम, ज्ञान, वैराग्य, अनन्यता और विनय के भावों से हृदय को परम शांति मिलती है। प्रेम और वैराग्य का ऐसा दिव्य सम्मिश्रण और कहाँ मिलता है?

केवल चरनदासी पंथ में ही नहीं, अपितु समस्त संत-मत में, साधन-पथ में प्रवृत्त होने के पूर्व श्रीगुरु-चरणों का आश्रय आवश्यक माना जाता है। संसार की मोहिनी माया का आकर्षण इतना तीव्र है, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मार्ग के इतने भयंकर शत्रु हैं, पग-पग पर बटमार छिपे बैठे हैं और साधक को लुभाने तथा पथ-भ्रष्ट करने के लिये इतने उद्यत हैं कि यदि एक पल के लिये भी बिस्मरण हुआ कि वह सदा के लिये गया। इसीलिये मार्ग में एकनिष्ठ होकर चलने तथा अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अनुभवी सतगुरु के चरणों की शरण ही एकमात्र साधन है। गुरुदेव साधन-पथ के विघ्न-बाधाओं को भली भाँति जानते हैं, वे इस मार्ग को तय कर चुके हैं, उन्हें खाई-खंदकों का पूरा पता है। अतएव, उनके हाथ में अपने को पूर्णतः सौंप देने से ही हम

सर्वथा निश्चिंत हो सकते हैं। गुरु के समान यहाँ 'अपना' कोई है ही नहीं—

> या जग में कोउ है नहीं गुरु-सम दीनदयाल।
> सरनागत कूँ जानि के भले करें प्रतिपाल॥
> मनसा बाचा करि 'दया' गुरु चरनौं चित लाव।
> जग समुद्र के तरन कूँ नाहिन आन उपाव॥

सद्‌गुरु साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं—उन्हें मनुष्य-रूप में नहीं देखना चाहिये। उन्हें ही साक्षात् नारायण मानकर वंदना करनी चाहिये। हरि का दर्शन श्रीगुरु की अनुकंपा पर निर्भर है—वे जब चाहें अज्ञान के तिमिर को छिन्न-भिन्न करके ज्ञानाञ्जन-शलाका के द्वारा हमारे अंतश्चक्षुओं को खोल देते हैं और तभी हमारा सत्य से साक्षात्कार होता है—

> सतगुरु ब्रह्म-सरूप हैं, मनुष-भाव मत जान।
> देह-भाव मानै 'दया', ते हैं पसू समान॥
> नित प्रति बंदन कीजिये, गुरु कूँ सीस नवाय।
> 'दया' सुखी कर देत हैं, हरि-सरूप दरसाय॥

गुरु के हाथ अपने को सर्वथा सौंप देने पर अपना सब पाप-पुण्य श्रीचरणों में निवेदन कर चुकने पर हृदय जब सर्वथा उन्मुक्त और निर्मल हो जाता है, तभी प्रभु से हमारा परिचय होता है। यह 'परिचय' ही साधना का प्राण है। इस परिचय को ही संतों ने परम महोत्सव तथा महामंगल की घड़ी माना है। होता तो है यह एक क्षण में ही, परन्तु जीवन भर उसका नशा, उसकी मधुर उन्मद स्मृति बनी रहती है। महात्मा लोग इसे बड़े उल्लास के साथ स्मरण किया करते हैं। वह घड़ी धन्य है जिसमें प्रभु ने हमारे हाथ को अपने हाथ में लिया, सदा के लिये हमें अपने

चरणों में स्वीकार कर लिया। वह घड़ी वास्तव में कितनी दिव्य है !

> सेत सिंहासन पीव को, महा तेजमय धाम।
> पुरुषोत्तम राजत तहाँ, दया करत परनाम॥
> बिन दामिन उजियार अती, बिन घन परत फुहार।
> मगन भयो मनुवाँ तहाँ, दया निहार-निहार॥

महा तेजोमय धाम में प्रीतम का श्वेत सिंहासन बिछा हुआ है। उस दिव्य सिंहासन पर पुरुषोत्तम हरि विराजमान हैं। दया उनके चरणों में प्रणाम कर रही है। बिना बिजली के ही वहाँ अत्यंत प्रकाश है। बिना मेघ के ही रिमझिम-रिमझिम फुहियाँ झर रही हैं। उसे निहार-निहारकर मनुवाँ मगन हो रहा है, अपने को खो रहा है।

इस 'परिचय' के अनंतर साधक की बड़ी विचित्र दशा हो जाती है। जगत् की ओर पीठ करके और प्रभु की ओर मुख करके वह बेतहाशा दौड़ता है। सुख और दुःख दोनों से परे जाकर वह प्रभु-प्रेम में तड़फड़ाने लगता है। प्रेम के समुद्र में जाकर कोई ऊपर नहीं आता। जन्म-जन्म के बिछड़े हरि की एक हल्की झाँकी पाकर वह सदा के लिये उसे अपना लेने के लिये तड़प उठता है। इस मधुर, परंतु तीव्र वेदना की अनुभूति किसी-किसी परम भाग्यवान् पुरुष को ही होती है—साधना की यह परम मनोहर स्थिति है।

> जनम-जनम के बीछुरे हरि अब रह्यो न जाय।
> क्यों मन को दुख देत हो, बिरह तपाय-तपाय॥
> बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवै केहि ओर।
> छिन उठूँ छिन गिर परूँ, राम दुखी मन मोर॥

प्रेमी की यह विरह-वेदना ही भगवान् का प्रसाद है । पता नहीं 'वह' किस राह से आ जाय ऐसा सोचकर 'दया' छन में उठती है, छन में गिरती है और राह की ओर एकटक दृष्टि लगी हुई है। वह कब आ जाय, किधर से आ जाय --इस प्रकार की आतुर प्रतीक्षा का स्वाद कितना मधुर है !

प्रभु-प्रेम के दीवाने संतों की अटपटी बातें कोई क्या समझे ? इस अलमस्त फक्कड़पन और बेहोशी के सामने त्रिभुवन की सारी सम्पदा, जगत् के सभी वैभव तिनके से भी तुच्छ हैं। यही तो शाहंशाही है, राजाओं का राजा बनकर अपनी ही मस्ती में छके रहना है, अपनी ही बेहोशी में बेपरवाह डोलना है। अपनी मौज में कभी हँसना, कभी रोना, कभी गाना, कभी नाचना ! हरि के रस का ऐसा ही विचित्र नशा है। यहाँ तो न ऊधो का लेना है न माधो का देना। दृष्टि के सामने हरि के सिवा कोई है ही नहीं। मनुवाँ बेपरवाह हरि के प्रेम समुद्र में तैर रहा है, किल्लोल कर रहा है । वहाँ नेम और व्रत की गुंजाइश ही नहीं है। वहाँ तो बस, अन्तर-बाहर केवल हरि ही हरि हैं ! 'दया' की कैसी उन्मत्त अवस्था है !

> 'दया' प्रेम उन्मत्त जे, तन की तनि सुधि नाहिं ।
> झुके रहैं हरि-रस छके, थके नेम व्रत नाहिं ॥
>
> प्रेम-मगन जे साधवा, विचरत रहत निसंक ।
> हरि-रस के माते 'दया' गिनै राव ना रंक ॥
>
> हरि-रस माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध ।
> त्रिभुवन की संपति 'दया' तृन-सम जानत साध ॥

हरि ही हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, सखा-मित्र, पुत्र-कलत्र सब कुछ केवल हरि ही हैं । वे ही मेरे सवस्व हैं । उन्हीं में सदा—

सदैव रमना है। उन्हीं में अहर्निश बसना है। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय ही भक्त को सब ओर से सदा के लिये अभय कर देता है। उसे अब किसी और की ओर देखना नहीं पड़ता, किसी की अपेक्षा नहीं होती। उसके मस्तक पर प्रभु के वरद हस्त सदा-सदैव बने रहते हैं। उसके हृदय में त्रिभुवन-सुन्दर हरि की मंगलमयी मूर्ति अखंड रूप से बसी रहती है और आनन्द की अजस्र वर्षा करती रहती है। सोते-जागते बस एकमात्र वही हरि !

सोवत-जागत हरि भजौ, हरि-हरि दे न बिसार।
डोरी गहि हरिनाम की, 'दया' न टूटै तार॥

हरिनाम का तार न टूटे। हृदय में हरिनाम की गंगा अखंड बहती रहे। लोक-परलोक सबको भुलाकर हरि को भीतर जगाये रखना है। सब ओर से मुँह मोड़कर हरि की शीतल गोद में जा सोना है। 'अब हम अमर भये, न मरेंगे।' हरि की गोद के सिवा शान्ति अथवा सुख का एक कण भी कहीं प्राप्त नहीं हो सकता। अन्यत्र कहीं शान्ति है ही नहीं, सुख है ही नहीं। जगत् के विषयों में जो हमारी सुख-बुद्धि है, वह मृगजल से प्यास बुझाने के समान है। वहाँ तो केवल आग की लपट है, भयानक ज्वाला है। वहाँ तो बस 'उलझि-उलझि मर जाना है।' हरि को बिसारकर जो जगत् में पगे हैं, वे आत्महनन के भागी होते हैं—अपने आप अपनी हत्या कर रहे हैं।

मनमोहन को ध्याइये, तन मन करिये प्रीति।
हरि तज जे जग मैं पगे, देखौ बड़ी अनीति॥
'दया' दास हरिनाम लै, या जग में यह सार।
हरि भजते हरि ही भये, पायो भेद अपार॥

हरि की अपार अहैतुकी अनुकंपा और अपनी अपात्रता पर जब साधक की दृष्टि जाती है, तो उसका हृदय टूक-टूक हो जाता है। वह देखता है, अपने हृदय में इस बात का तीव्र अनुभव करता है कि प्रभु ने हमारे सारे पापों पर पर्दा डालकर हमारी त्रुटियों और अपराधों को बिसारकर हमें अपनाया है। प्रभु की दृष्टि हमारे पापों पर गयी ही नहीं—ऐसा ही प्रतीत होता है। हम अपने पाप और त्रुटियों को ज्यों-ज्यों प्रभु के चरणों में निवेदन करते जाते हैं, त्यों-त्यों प्रभु का हमारे प्रति वात्सल्य प्यार उमड़ता आता है। बालक जितना ही दुर्बल होता है, माँ उतना ही उसका अधिक सँभाल रखती है। प्रभु ने एक बार जिसे स्वीकार किया, उसे किसी भी कारण विलग नहीं किया। जिसकी बाँह उन्होंने एक बार पकड़ी, उसे कभी छोड़ा नहीं। यही उनकी विरद है। एक बार उनके सम्मुख होने भर की आवश्यकता है। फिर कोई भी विकार भक्त को स्पर्श तक नहीं कर सकता।

परन्तु, भगवत्कृपा की प्राप्ति प्रभु की अनुकंपा पर ही निर्भर है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' हम अपनी साधना से प्रभु को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते—इस बात को साधक एक क्षण के लिये भी नहीं भूलता। साधक को अपनी साधना का बल नहीं होता, उसे एकमात्र प्रभु की अनुकंपा का ही भरोसा रहता है। वह बड़ी उत्कंठा के साथ प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा किया करता है; क्योंकि वह जानता है कि हममें अगणित पाप भरे पड़े हैं, प्रभु को प्रसन्न करने लायक एक भी गुण नहीं है; फिर भी प्रभु इन सबको अनदेखी, अनसुनी करके हमें अपनाये हुए हैं। बस, उनकी कृपा का ही एकमात्र आसरा-भरोसा है।

केहि विधि रीझत हौ प्रभु का कहि टेरूँ नाथ।
लहरि मिहरि जब हीं करो, तब ही होउँ सनाथ॥

तुम किस प्रकार रीझते हो, कैसे ढलते हो, तुम्हें क्या कह-कर टेरूँ—हे प्रभु! मैं यह कुछ भी नहीं जानता। अपनी ही ओर से जब तुम दया की वर्षा करो तभी मैं तुम्हें पा सकता हूँ और तभी सनाथ हो सकता हूँ। संसार-सागर अथाह है। इसका कहीं ओर-छोर नहीं है। उस पार कैसे उतरूँ? तैरते-तैरते थक गया हूँ, वारपार नहीं सूझता। तुम्हारी कृपा का बस एक कटाक्ष हो जाय, तो मैं पार उतर जाऊँ। तुम जानते ही हो मैं किस प्रकार संसार-ताप में जल-मर रहा हूँ। कहीं कोई आश्रय नहीं। जहाँ कहीं जाता हूँ, तिरस्कृत, अपमानित और लांछित होता हूँ। चारों ओर से आश्रयहीन होकर, अनाथ होकर तुम्हारे चरणों की छाया में आया हूँ; क्योंकि तुम ही मेरे एकमात्र अवलम्ब हो, मेरे अशरण-शरण हो, मुझ निराधार के आधार हो।

> भवजल नदी भयावनी, किस विध उतरूँ पार।
> साहिब मेरी अरज है, सुनिये बारंबार॥
> पैरत थाको हे प्रभु, सूझत वार न पार।
> मिहर मौज जब ही करो, तब पाऊँ दरबार॥
> निरपच्छी के पच्छ तुम, निराधार के धार।
> मेरे तुम ही नाथ इक, जीवन प्रान - अधार॥

जितने भी पाप के कर्म हैं—एक भी मुझसे छूटे नहीं। प्रभु! मेरी करनी की ओर देखोगे, तो कभी भी मेरा उद्धार सम्भव नहीं। अपने विरद और बाने की ओर देखो। तुम्हारा विरद ही अधम-उधारण है। यह सुनकर मैं सर्वथा निडर हूँ। तुम तो घट-घट-वासी मेरे अन्तर्यामी प्रभु हो, तुम से क्या छिपा है, तुम मेरी क्या नहीं जानते?

> जेते करम हैं पाप के, ओसे बचै न एक।
> मेरी ओर लखो कहाँ, बिरद-बानो तन देख॥

जो जाकी ताके सरन, ताको ताहि खभार।
तुम सब जानत नाथ जू, कहा कहौं बिस्तार॥

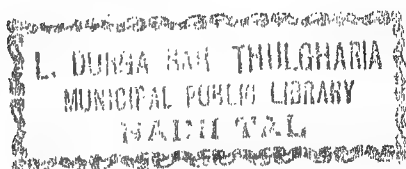
न मैं पूजा जानता हूँ, न अर्चना और न बंदगी ही। मुझसे न स्मरण ही होता है न ध्यान ही। मेरे में न संयम है, न साधना; न तो तीरथ सेया, न व्रत किया, और न दान ही दिये। जिस प्रकार एक नादान बालक अपनी माँ के भरोसे रहता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे ऊपर आश्रित हूँ। तुम्हारे सिवा मेरा कोई आश्रय नहीं—

पूजा अर्चन बंदगी, नहिं सुमिरन नहिं ध्यान।
प्रभुजी अब राखै बनै, बिर्द-बाने की कान॥
नहिं संयम नहिं साधना, नहिं तीरथ-व्रत-दान।
मात-भरोसे रहत है, ज्यों बालक नादान॥

बच्चे से लाख चूक हो जाय, फिर भी माँ उसे कैसे छोड़ेगी? माँ तो अपने भूल-भरे, धूल-भरे बालक को चूम-चुचुकार कर गोद में उठा लेती है और अपने आँचल में छिपा लेती है। वह जानती है कि उसका बालक इतना अबोध है कि आग को आग और पानी को पानी नहीं समझता। माँ यह भी जानती है कि यदि एक क्षण के लिये भी वह बच्चे को स्वतंत्र छोड़ देगी, तो वह आग में अपना शरीर जला लेगा, पानी में जा डूबेगा। इसीलिये वह उसका इतना ध्यान रखती है। बच्चा एकमात्र माँ पर सर्वथा निर्भर है। संसार में तेरा कहाकर जी रहा हूँ। सभी यह जानते हैं कि मैं तुम्हारी शरण में हूँ और तुमने मेरी बाँह पकड़ी है। चिड़िया का बच्चा डैना फड़फड़ाता है पर उड़ नहीं सकता, ऐसी ही मेरी दशा है। यह सीस तुम्हारे ही सामने नवे, तुम्हीं से अपनी दीनता सुनाऊँ। झगड़ूँ भी तो तुम्हीं से, अधीनता स्वीकार

करूँ तो केवल तुम्हारे चरणों का ही। संसार में राजा, राव, शाह, बादशाह कोई नजर ही न आवे; किसी के सामने आँचल न पसारूँ, हाथ न फैलाऊँ। ध्यान सदैव तुम्हारे चरणों का ही रहे—चाहे जहाँ भी रहूँ।

सीस नवै तो तुमहिं कूँ, तुमहिं सूँ भाखूँ दीन।
जो झगरूँ तो तुमहिं सूँ, तुम चरनन आधीन॥



बावरी साहिबा

एक प्रेम-दीवाने ईसाई संत के उद्‌गार हैं—

Think love, drink love, eat love, dream love-then your life will be beautiful, glorious, sublime, ethereal. Live in the paradise of love. Soar in the crystalline air of love. Swim in the shoreless sea of love, walk in the eternal rose-garden of love. Perfume your nostrils with the sweet fragrance of the flowers of love. Familiarize your ears with the soul entrancing melodies of love. Let your ideal be a bouquet of love. Acquire love and more love. Be a centre of love, a haven of love.

'प्रेम ही सोचो, प्रेम ही पियो, प्रेम ही खाओ, प्रेम का ही स्वप्न देखो। तभी तुम्हारा जीवन सुन्दर, यशस्वी, दिव्य, पावन

होगा। प्रेम के स्वर्ग में रहो, प्रेम की हवा में उड़ो, प्रेम के अपार पारावार में तैरो, प्रेम के गुलाब-बाग में टहलो। नाक में प्रेम के पुष्पों की गन्ध आने दो, कानों से हृदय को विभोर करने-वाले प्रेम-संगीत सुनो, प्रेम का जीवन जियो, प्रेम—अधिक से अधिक प्रेम प्राप्त करो, प्रेम का केन्द्र बन जाओ, प्रेम का आगार बन जाओ।'

संत-साधना में बावरी साहिबा का नाम उनके अजस्र प्रेम, दिव्य, अलौकिक प्रेम के लिये अमर है। नारी-हृदय की सहज सुकुमारता, शील, संकोच तथा संत-जीवन के आत्म-गोपन के भावों से प्रेरित होने के कारण इन्होंने अपने जीवन के संबंध में एक अक्षर भी नहीं लिखा। इनके जन्म और प्रयाण का सन्-संवत् भी नहीं मिलता। इतना ही पता चलता है कि आप देहली के एक संभ्रांत कुल की महिला थीं। प्रभु के प्रेम में पागल होकर ये घर से निकल पड़ीं और स्वजनों के द्वारा बहुत प्रताड़ित हुईं। परन्तु, आप भगवत्प्रेम से विरत न हुईं।

'मैं बंदी हौं परम तत्त्व की, जग जानत कि भोरी।'

बावरी की बस एक सवैया मिलती है। उसमें उनकी अद्भुत निष्ठा, अलौकिक भगवत्प्रेम तथा विलक्षण आत्मबोध झलकता है। वे बाहरी वेश, आडंबर, छापा, तिलक के विरोधी थीं तथा लोगों में दंभ-आडंबर से बचने का उपदेश किया करती थीं।

बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान जिन्हें हरि-रूप हिये दरसावरी॥
साँवरी सूरत, मोहनी मूरत देकर ज्ञान अनंत लखावरी।
खावरी सौंह तिहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति बावरी॥

हे प्रभु! आपकी लीला क्या कहूँ? यह 'बावरी' आपके

चरणों में भाँवरी भर रही है—जैसे पतंग दीपक की भाँवरी भरता है। इस भाँवरी भरने में क्या रस है, इसका अनुभव तो वे सुविज्ञ संत ही करते हैं जिनके हृदय में हरि ने अपना सलोना रूप दिखलाया है। एक बार हरि ने अपनी साँवरी सूरत और मनोहारी मूरत को हृदय के अन्तस् में दिखलाकर अनंत ज्ञान का द्वार खोल दिया। द्वार खुलने पर चित्त वहीं जाकर लुभा गया। सच कहती हूँ, तुम्हारी शपथ खाकर कहती हूँ—तुम्हारी लीला देखकर हे हरि ! मेरी मति बावरी हो गयी है—तुम्हारे प्रेम की थाह नहीं पा रही हूँ और मन माता-माता डोल रहा है—तुम्हारे प्रेम, आनन्द एवं सौंदर्य के सिन्धु में मेरा मन-रूपी हंस किल्लोल कर रहा है। अब इस जगत में क्या देखने, क्या सुनने के लिये लौटे ?

बीरू साहब

निर्गुण प्रेमी संतों में बीरू साहब का नाम उनके अटूट वैराग्य और अपार प्रेम के लिये अमर है। संसार के विषयों से वैराग्य और प्रभु चरणों में अपार प्रेम—यही उनके जीवन की ज्योति थी। आप दिल्ली की प्रसिद्ध संत-शिरोमणि श्री बावरी साहिबा के प्रमुख शिष्य थे। बावरी के परमधाम-गमन के पश्चात् बीरू साहब दिल्ली में उनके स्थान पर सत्संग करते-कराते रहे। आप की विरक्ति, प्रेम और मस्ती अजीब थी। इनके पदों से—जो आज बहुत कम प्राप्त हो रहे हैं--इनके अनमोल अनुभव की कई रहस्यपूर्ण बातें प्रकट होती हैं। आपके जन्म और प्रयाण का सन्-संवत् ठीक-ठीक नहीं मिलता। परंतु, इतना तो अनुमान से कहा जा सकता है कि आपका आविर्भाव तीन सौ वर्ष पूर्व दिल्ली में हुआ तथा उसके आस-पास संत-मत का उपदेश करते रहे। यारी साहब आपके पट्टशिष्य थे।

मनुष्य प्रभु से क्या प्रतिज्ञा करके आया था और क्या करने

में फँस गया, इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए बीरू साहब लिखते हैं—

हंसा रे बाझल मोर याहि घरौं,
करबो मैं कवनि उपाय।
मोतिया चुगन हंसा आयल हो,
सोतो रहल भुलाय॥
झीलर को बकुला भयो है,
कर्म कीट धरि खाय।
सतगुरु सत्य दया कियो,
भव-बंधन ते लियो छुड़ाय॥
यह संसार सकल है अंधा,
मोह मया लपटाय।
'बीरू' भक्ति हंसा भयो सुख सागर,
चल्यो है नहाय॥

क्या उपाय करूँ, मेरा हंस जो मोती चुगने के लिये आया था, बावली का बगुला होकर कर्म-कीट को खा रहा है—अपना स्वरूप भूल गया है। यह सारा संसार अंधा होकर मोह-माया में लिपटा हुआ है। गुरुदेव की कृपा से आज मेरी आँखें खुलीं और भक्ति-प्रीति का प्रसाद पाया। मेरा हंस आज सुख के समुद्र में नहा रहा है।

सुरति-योग में ध्यान, ध्याता और ध्येय जब एकाकार हो जाते हैं, तो संतों को भिन्न-भिन्न रूप और शब्द का हृदय-गुहा में साक्षात्कार होता है। उस रूप और शब्द में जब चित्त जाता है तो फिर वहाँ से लौटना कठिन ही नहीं, वरन असंभव हो जाता है। संतों की यह अनुभूति ही उनके प्राणों का आधार है। बीरू साहब लिखते हैं—

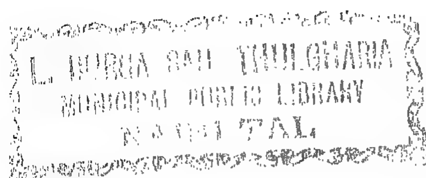
आली रूप लागीलो आछे मने ।
हियरा मध्य मोहनि मूरति राखिलो यतने ।
दरस-परस मोहन मूरति देखिलो सपने ॥
कोटि ब्रह्म जाको पार न पावैं, सुर नर मुनि को गने ।
बीरू भक्त केरा मन स्थिर नाहीं,मैं पापी भजिबो को मने ॥

हृदय के भीतर मोहिनी मूर्ति विराज रही है, इसे यत्न से रखे रहो; 'सुरत' वहाँ से फिसलने न दो। 'उसे' देखो, उसका स्पर्श प्राप्त करो, हिलो-मिलो। करोड़ों ब्रह्मा जब उसका पार नहीं पा सकते, तो और देवताओं, मनुष्यों और मुनियों की कौन कहे ? बीरू का मन स्थिर नहीं तब मैं पापी भगवान् को कैसे भजूँ ?

त्रिकुटी में ध्यान की एकाग्रता प्राप्त होते ही कैसी सुंदर अनुभूति होती है, इसका चित्र नीचे के पद में देखिये—

त्रिकुटी के नीर तीर बाँसुरी बजावैं लाल,
भाल लाल-से सबै सुरंग-रूप चातुरी ।
यमुना ते और गंग अनहद सुरतान संग,
फेरि देखु जग-मग को छोड़ु देवै काहरी ॥
बायू प्रचंड चंड बंक नाल मेरू दंड,
अनहद को छोड़ि दे आगे चलु बावरी ।
ॐकार धार बास, इनहूँ का है बिनास,
खसम को साथ करू, चीन्ह ले तू नाहरी ॥
जन बीरू सतगुरु शब्द रिकाब धरु,
चल शूर जीत मैदान घर भावरी ॥

हद-अनहद सबको लाँघकर अपने प्रियतम पति को पहचानो और उनके साथ हो लो। बीरू साहब के बस ये ही तीन छन्द प्राप्त हैं।



यारी साहब

दिया हमने जो अपनी ख़ुदी को मिटा,
वह जो परदा था बीच में अब न रहा ।
रहा परदे में अब न वह परदानशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ॥

अहंकार का पर्दा जो हमारे और प्रियतम के बीच में पड़ा था, वह अब सदा के लिये मिट गया। वह प्रियतम जो पर्दे में छिपा हुआ था, अर्थात् हम अपने अहंकार के कारण जिसका साक्षात्कार नहीं कर सकते थे, वह पर्दा हट जाने के कारण रूबरू (सामने) आ गया। उसकी ओर दृष्टि जाते ही ऐसी लुब्ध हो गयी कि अब उसके सिवा कोई और रहा ही नहीं। ऐसे ही अंतर्भेदी अनुभवी संत यारी साहब थे।

यारी साहब के जीवन के विषय में कुछ विशेष पता नहीं चलता। महात्माओं का कथन है कि आप शाही घराने के

राजकुमार थे। आप बचपन से ही प्रभु की खोज में थे। जाति के मुसलमान थे और दिल्ली में अपने गुरुदेव बीरू साहब की सेवा में रहते थे। उनके शरीर छोड़ने पर उसी स्थान पर वे रहकर सत्संग कराते थे। दिल्ली में इनकी समाधि अब तक है। इनका जीवन-काल अनुमान से विक्रमी संवत् १७२५ से १७८० तक माना जाता है। इनके चार चेले प्रसिद्ध हैं—केशवदास, सूफीशाह, शेखनशाह और हस्त मुहम्मदशाह। ये शब्दमार्गी परम्परा के संत थे। इन्होंने कोई नया पंथ नहीं चलाया। भक्ति और प्रेम इनकी साधना के मुख्य अंग हैं और इन दो पर ही इन्होंने बहुत जोर दिया है—

दिन-दिन प्रीति अधिक मोहिं हरि की।
काम-क्रोध-जंजाल भसम भयो, बिरह-अगिन लगि धधकी॥
धुधुकि-धुधुकि सुलगति अति निर्मल, झिलमिल-झिलमिल झलकी।
झरि-झरि पर अँगार अधर यारी, चढ़ि अकास आगे सरकी॥

हरि के चरणों में प्रीति ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, काम-क्रोध का जंजाल जलकर भस्म हो गया और विरह की अग्नि धधक उठी। विरह की यह अत्यंत निर्मल अग्नि धीरे-धीरे सुलगती है और इसकी आभा में प्रियतम की झिलमिल झलक दीख रही है।

'संबंध' हो जाने पर परिचय की प्रगाढ़ अवस्था में प्रेमी को सर्वत्र प्रियतम के ही दर्शन होते हैं और घट-घट उसी का प्रकाश, उसी का प्रेम प्राप्त होता है—

हमारे एक अलह पिय प्यारा है।
घट-घट नूर महम्मद साहब, जाका सकल पसारा है॥

नाम-जप की साधना में भी यारी साहब ने प्रीति को ही प्रधान आधार माना है। यह प्रीति प्रभु से किसी भी भाव में संबंधित होने पर ही प्राप्त होती है और नाम का रस तभी

अन्तस् को परिप्लावित कर देता है—उस समय बाहर से नाम-जप करना नहीं पड़ता, वह अन्तर में अपने आप होने लगता है। नारी अपने पति का नाम नहीं जपती; परन्तु उस नाम में उसकी जो प्रीति है, जो ममता है, वह नाम 'रटनेवाले' कितनों में है? यारी साहब कहते हैं—

पुरुष-नाम नारी ज्यों जानै, जानि बूझि नहिं भाखै।

उपनिषदों में जिस परम तत्त्व के संबंध में 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति' (वहाँ न सूर्य की पहुँच है, न चन्द्रमा और नक्षत्रों की; विद्युत् का प्रकाश भी वहाँ नहीं है, फिर इस अग्नि की क्या कथा? उस 'एक' के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है।) उसी ओर यारी साहब अपने 'हंस' को उड़ने का संकेत दे रहे हैं—

उड़ु, उड़ु रे बिहंगम, चढ़ु अकास।
जहँ नहिं चाँद-सूर, निस-बासर, सदा अमरपुर अगम नास॥
देखै उरध अगाधि निरंतर, हरष-सोक नहिं जम कै त्रास।
कह यारी उहँ बधिक फाँस नहिं, फल पायो जगमग परकास॥

बहुतेरे संतों ने 'ककहरा' या 'अलिफनामा' लिखा है, जिसमें देवनागरी या फारसी के प्रत्येक अक्षर पर एक-एक अनुभव-पूर्ण सुन्दर उक्ति रहती है। यारी साहब ने दो अलिफनामे लिखे हैं—पहले में उनके अनुभव और दूसरे में उनके उपदेश हैं, जो वास्तव में साधन-पथ के पथिकों के लिये अनमोल हैं। साधन-मार्ग की कठिनाइयों और उनपर विजय प्राप्त करने के तरीकों पर इन अलिफनामे में यारी साहब ने पूरा प्रकाश डाला है। जड़-चेतन जो कुछ भी हम देख रहे हैं, सबमें 'एक' ही रम रहा है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मिट्टी के बने हुए खिलौने तथा

सोने के बने हुए गहनों के रूप और आकार के भेद से भिन्न-भिन्न नाम भले ही हों; परन्तु है तो वह मिट्टी और सोना ही । ठीक उसी प्रकार जगत् में जो कुछ भी नाम-रूप है, वह मूल में सब कुछ प्रभु का ही रूप है, प्रभु का ही नाम है—

देखु बिचार हिये अपने नर देह धरो तो कहा बिगरो है ।
यह मिट्टी को खेल-खिलौना बनो एक भाजन नाम अनंत धरो है ॥
नेक प्रतीति हिये नहिं आवत, मर्म भुलो नर अवर करो है ।
भूषन ताहि गँवाइ के देखु, यारी कंचन ऐन को ऐन धरो है ॥

यारी साहब की साखियों में उनका अप्रतिम प्रेम और गंभीर आत्मानुभूति का रस भरपूर है । वे पढ़ने में जितनी सरल हैं उनका भाव उतना ही गूढ़ और हृदयस्पर्शी है—

नैनन आगे देखिये, तेजपुंज जगदीस ।
बाहर-भीतर रमि रह्यो, सो धरि राखो सीस ॥
आठ पहर निरखत रहौ, सनमुख सदा हजूर ।
कह यारी घर हीं मिलै, काहे जाते दूर ॥
आतम नारि सुहागिनी , सुंदर आपु सँवारि ।
पिय मिलवे को उठि चली, चौमुख दियना बारि ॥

तेजः पुंज-स्वरूप प्रभु आँखों के सामने खड़ा है । अंतर-बाहर वही वह रम रहा है, उसी के चरणों में हमें अपने मस्तक—अपने अहंकार की बलि देनी पड़ेगी । उसे खोजने के लिये दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है । मालिक तो सदा सामने है । उससे तो अपने घर में ही मिलना होगा । आत्मारूपी सुहागिन नारी अपने सुन्दर वेश को सँवारकर चारों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई अपने परम प्रियतम से मिलने चली ।

मिलन के समय जो स्थिति हुई, जो रस बरसा, उसका वर्णन कोई शब्दों में क्या करे, कैसे करे ?

बुल्ला साहब

To what other end was man created, destined called, invited, drawn, ravished, if not for the conjugal embraces and kisses of God ?

—Fray Juan

मनुष्य संसार में क्यों आया ? भगवान् ने उसे भेजा ही क्यों ? इस दुःखमय जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-रूप आदि से भरे संसार में मनुष्य को भगवान् ने किस उद्देश्य से भेजा ? भगवान् से निकला हुआ मनुष्य भगवान् को पाये बिना शांत कैसे हो सकता है ? हम भगवान् से ही निकले हैं और हमारी जीवन-गंगा भगवान् को ही पाकर तृप्त हो सकती है। भगवान् में हम मिलेंगे ही—यह तो ध्रुव-सत्य है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम जीवन के प्रतिपल में अपने परम प्रियतम प्रभु के स्पर्श, मिलन, आलिंगन का आनन्द पाते रहें। भगवान् के प्रणय-

आलिंगन में बँध जाने के लिये ही, उसके उन्मद दिव्य चुंबन को अपने प्राणों के प्राण में प्राप्त करने के लिये ही मनुष्य का संसार में आना हुआ है। सभी संत बार-बार हमें यही स्मरण कराते हैं।

मिलन के इस आनंद को, प्रियतम के प्रगाढ़ आलिंगन के रस को प्राप्त करने का एकमात्र साधन संतों ने जो बतलाया है, उसमें मुख्य है हरि-स्मरण। एक पल भी प्रभु का विस्मरण न हो। एक क्षण के लिये भी 'वे' न बिसरें। और यह स्मरण जितना ही प्रगाढ़, जितना ही प्रेम पूर्ण और अनन्य होगा, प्रभु का प्रेम उतना ही अधिक हमें प्राप्त होगा। प्रभु का विस्मरण ही मृत्यु है और प्रभु का स्मरण ही जीवन है।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।

"विपत्तियाँ सच्ची विपत्ति नहीं है और न संपत्ति ही सच्ची संपत्ति है। भगवान् का विस्मरण ही विपत्ति है और स्मृति ही संपत्ति है।"

संतों ने अपने जीवन और उपदेश के द्वारा हमें बार-बार यही समझाया है। ऐसे संत भगवान् के संदेश को जगत् के प्राणियों तक पहुँचाने के लिये समय-समय पर आते हैं। बुल्ला साहब भी ऐसे ही आत्मदर्शी, अनुभवी संतों में हैं। इनके जीवन और इनकी वाणी में भगवान् के प्रेम का आनंद और तज्जन्य विह्वलता का प्रगाढ़ रस मिलता है।

बुल्ला साहब के जीवन के संबंध में जो कुछ भी सामग्री उपलब्ध है, उससे इतना ही पता चलता है कि ये यारी साहब के चेले थे और इस परंपरा में इनके बाद जगजीवन साहब और गुलाल साहब इनके शिष्य हुए। इनका असली नाम बुलाकी राम था। ये जाति के कुनबी थे। गाजीपुर जिले के भुरकुड़ा गाँव में

इन्होंने अपना सत्संग स्थापित किया। इनकी महासमाधि के अनंतर गुलाल साहब और भीखा साहब भी वहीं सत्संग कराते रहे। वहाँ इन तीनों महात्माओं की समाधियाँ अब तक हैं। बुल्ला साहब के जन्म की निश्चय तिथि नहीं मिलती। अनुमान से यह कहा जा सकता है कि विक्रमी १८वीं शताब्दी के अंतिम भाग में वे हुए।

बुल्ला साहब एक प्रकार से निरक्षर थे। दरिद्र कुल में उत्पन्न होने के कारण और कुछ भी शिक्षा-दीक्षा न होने के कारण इन्हें शारीरिक परिश्रम करके अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता था। ये गुलाल साहब के यहाँ नौकर थे और हल चलाने का काम करते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि बैलों को हाँककर खेत में ले जा रहे हैं और बीच में ही भगवान् का स्मरण हो आया। हल आदि रख दिया, बैलों को छोड़ दिया और भजन में लग गये। इनके कार्य से मालिक को संतोष नहीं था। कभी-कभी हल चलाते समय भी जब भगवान् का प्रगाढ़ स्मरण हो आता, तो इनके लिये कार्य करना कठिन हो जाता। ये ध्यान में बैठ जाते और घंटों इसी दशा में बैठे रहते। अपनी लापरवाही पर इन्हें मालिक की झिड़कियाँ भी खानी पड़तीं; परन्तु ये विवश थे। सुरूर आने पर अपने को सँभालना कठिन हो जाता है। जिसे प्रभु अपनी ओर खींच लेना चाहता है, उसे संसार के अन्य सभी कार्यों के लिये बेकार कर देता है।

एक दिन की बात है—बुल्ला साहब हल चलाने गये थे। वहाँ भगवान् के स्मरण की दिव्य धारा उमड़ पड़ी। हल को खेत में छोड़कर वे मेड़ पर बैठकर भगवान् का ध्यान करने लगे। ध्यान में यह अनुभव हो रहा था कि श्री भगवान् उनके घर पधारे हुए हैं, उनकी पूजा-अर्चा हो रही है। शंख, घड़ियाल, डफ, झाँझ, मृदंग

बज रहे हैं। भगवान् की आरती की जा रही है। भगवान् मंद-मंद मुसका रहे हैं और इनके मस्तक पर हाथ फेर रहे हैं। तदुपरान्त श्री भगवान् के शुभागमन के उपलक्ष्य में बुल्ला एक बहुत बड़ा भण्डारा करा रहे हैं। भिन्न-भिन्न देशों से संत-महात्म पधारे हुए हैं। ध्यान में ही बुल्ला ने देखा कि छप्पनों प्रकार के व्यंजन परोसे जा चुके हैं। अंत में वे हाथ में दही लेकर परोसने चले हैं। यह सब कुछ ध्यान में ही हो रहा था। इतने में गुलाल साहब वहाँ आ पहुँचे और अपने हरवाहे की नमकहरामी देखकर क्रोध में आग बबूला हो गये। उन्होंने कसकर बुल्ला साहब को एक लात मारी। बुल्ला साहब एकबारगी चौंक उठे और उनके हाथ से दही छलक पड़ा। अब तो गुलाल साहब के आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा। वे हक्के-बक्के हो गये। उन्होंने बुल्ला साहब के हाथ में पहले दही नहीं देखा था। ध्यान टूट जाने पर बुल्ला साहब ने बड़ी दीनता के साथ गुलाल साहब से निवेदन किया कि 'मेरा अपराध क्षमा करें, मैं साधुओं की सेवा में लग गया था और भोजन परोस चुका था—केवल दही बाकी था। उसे परोस ही रहा था कि आपके हिला देने से वह गिर गया।' अब गुलाल साहब की आँखें खुलीं और उन्हें अपनी करनी पर बड़ा पछतावा हुआ। वे बुल्ला साहब के चरणों में गिरकर जोर-जोर से रोने लगे। उन्होंने अपने 'हरवाहे' को ही अपना गुरुदेव बनाया।

बुल्ला साहब नाम-स्मरण के बहुत बड़े प्रेमी थे। साईं के नाम का आधार लेकर ही साधक प्रभु से 'परिचय' प्राप्त कर सकता है। नाम के बिना प्रभु का दर्शन, स्पर्श और मिलन प्राप्त नहीं हो सकता। नाम ही साधना का बहुत बड़ा सहारा है। यह नाम हृदय-गुहा में अखंड रूप से उच्चरित होता रहता है। आवश्यकता

इस बात की है कि साधक अपनी हृदय-गुहा में प्रवेश कर, नाम की धुन में अपने मन, चित्त, प्राण को लय करें। नाम के सिवा साधक के लिये आश्रय ही क्या है ?

साईं के नाम की बलि जाँव।

सुमिरत नाम बहुत सुख पायो, अंत कतहुँ नहिं ठाँव।

वह पुरुष धन्य है जिसने प्रियतम का परिचय पा लिया और उसके प्रेम को प्राप्त करने के लिये जो संसार के सारे संबंध, सारे राग-अनुराग को तिनके के समान तोड़कर एकाग्र—एकनिष्ठ भाव से प्रभु के पथ में चल पड़ता है, जिसे रात-दिन प्रियतम से मिलने की ही 'लौ' लगी रहती है और जगत की कोई भी वस्तु मोह में नहीं फाँस सकती।

धन कुलवती जिन जानल आपन नाह।

जेकरे हेतू थे जग छोड़्यो, सो दहुँ कैसन बाट।

रैन-दिवस लव लाइ रहो है, हृदय निहारत बाट॥

सच्चे भक्त को संसार के सभी विषयों के प्रति सर्वथा विरक्त होना पड़ता है। ऐसा हुए बिना मन, वचन और कर्म से प्रभु की भक्ति हो नहीं सकती। साधक संसार के लिये लँगड़ा हो जाय, उस ओर कदम बढ़ाये ही नहीं जिधर जगत के विषयों के बाजार लगे हुए हैं। साधक लुंजा हो जाय, उन विषयों की ओर उसके हाथ बढ़े ही नहीं। साधक बहरा हो जाय, संसार के विषयों की कोई बात वह सुने ही नहीं। साधक अंधा हो जाय, जगत के कोई प्रलोभन उसकी आँखों का विषय बने ही नहीं। भक्ति के खेल में शरीर का दान देना पड़ता है। सारे गर्व और गुमान को छोड़कर अपने को सर्वभाव से प्रभु के चरणों में निवेदित कर देना होता है।

साची भगति गुपाल की, मेरो मन माना।
मनसा-वाचा-कर्मना, सुनु संत सुजाना॥
लँगरा-लुंजा ह्वै रहो, बहिरा अस काना।
राम-नाम से खेल है, दीजै तन दाना॥
भक्ति हेतु गृह छोड़िये, तजि गर्व गुमाना।
जन बुल्ला पायो बाक है, सुमिरो भगवाना॥

भगवान् के चरणों में भक्ति होने पर हृदय में सहज ही प्रीति उत्पन्न होती है। यह प्रीति ही साधना की आत्मा है। प्रीति उत्पन्न हो जाने पर फिर अन्य किसी साधन का सहारा नहीं लेना पड़ता। प्रीति ही प्रभु का साक्षात्कार कराती है। प्रीति की प्रगाढ़ावस्था में ही साधक प्रभु की वंशी-ध्वनि सुनता है और नेत्रों से उसके अपरूप रूप का दर्शन करता है। भाव के बिना भक्ति हो नहीं सकती, और भाव से ही प्रीति का उदय होता है।

भगवान् जाति-पाँति नहीं पूछते, ऊँच-नीच नहीं देखते; जो भी उनका प्रीतिपूर्वक भजन करता है उसे वे अपना लेते हैं—

हे मन करु गोबिंद से प्रीत॥
स्रवन सुनि ले नाद प्रभु को, नैन दरसन पेख।
अचल अमर अलेख प्रभुजी, देख ही कोउ भेख॥
भाव सँग तू भक्ति करि ले, प्रेम से लवलीन।
सुरति से तू बेड़ बाँधो, मुलुक तीनों छीन॥
अधम अधीन अजाति बुल्ला, नाम में लवलीन।
अर्थ धर्म अरु काम मोछहिं, आपने पद दीन॥

सभी सच्चे संतों की भाँति बुल्ला साहेब ने भी प्रियमिलन की शुभ घड़ी को बड़े उल्लास के साथ स्मरण किया है।

आली आजु की रैन प्रीति मन भावै॥
गाय-बजावत, हँसत-हँसावत, सब रस लै जु मनावै॥

जीवन की सफलता संतों ने इसी में मानी है कि यहाँ आकर एक पल के लिये भी पिय का बिछोह न हो—प्राणों को प्रियतम का आलिंगन-चुंबन प्राप्त होता रहे। परम प्रियतम के आलिंगन को जिसने प्राप्त कर लिया, वह सदा के लिये निहाल हो गया। यह आध्यात्मिक परिणय ही संत-साधना का चरम लक्ष्य है और इसी की ओर संकेत करके बुल्ला साहब कहते हैं—

जियन हमार सुफल भो हो, सइयाँ सुतल समीप।
....
एक पलक नहिं बिछुरे हो, साईं मोर जिहीत।
पुलकि-पुलकि रति मानल हो, जानक परतीत॥

'सुरत शब्द' के अभ्यास में बुल्ला साहब को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई थी। उनके उपदेश बड़े ही अनुभवपूर्ण और अनमोल हैं। उनमें से कुछ साखियाँ यहाँ दी जाती हैं—

आठ पहर, चौंसठ घरी, जन बुल्ला धर ध्यान।
नहिं जानो, कौनी घरी, आइ मिलैं भगवान॥
आठ पहर, चौंसठ घरी, भरो पियाला प्रेम।
बुल्ला कहै बिचारि कै, इहै हमारो नेम॥
जग आये, जग जागिये, पागिये हरि के नाम।
बुल्ला कहै बिचारि कै, छोड़ि देहु तन-धाम॥
बोलत-डोलत, हँसि-खेलत, आपुहिं करत कलोल।
अरज करों, बिन दामहिं, बुल्लहिं लीजै मोल॥
ना वह टूटे, ना वह फूटे, ना कबहीं कुम्हिलाय।
सर्ब-कला-गुन-आगरो, मो पै बरनि न जाय॥

जगजीवन साहब

"He is no farther off than the door of the heart. There He stands and waits and waits until He finds thee ready to open and let Him in. Thou needst not call Him from a distance; to wait until thou openest is harder for Him than for thee. He needs thee a thousand times more than thou canst need Him. *Thy opening and His entering are but one moment.*

—*Eclchart.*

प्रभु तो तुम्हारे हृदय के द्वार पर खड़ा है और तुम्हारे द्वार खोलने की प्रतीक्षा में जाने कब से खड़ा है। दूर से पुकारने की क्या आवश्यकता? तुम उसके बिना भले ही ठहर जाओ, वह तुम्हारे बिना नहीं ठहर सकता। तुम्हें उसकी जितनी चाह है,

उससे हजारों गुना अधिक चाह है उसे तुम्हारी। तुमने हृदय का द्वार खोला नहीं कि वह भीतर आया। तुम्हारा खोलना और उसका प्रवेश करना एक साथ ही होता है।

जगजीवन साहब के जीवनकाल के विषय में कइ प्रकार के मत हैं। सतनामी पंथवाले इनका जन्म माघ सुदी सप्तमी मंगलवार संवत् १७२७, और मृत्यु-तिथि वैशाख बदी सप्तमी मंगलवार संवत् १८१७ बतलाते हैं। बाराबंकी (अवध) जिले के सरहदा गाँव में इनका जन्म हुआ था। ये चंदेल क्षत्रिय थे। ये जन्म भर गृहस्थ ही रहे। अपने जिले के कोटवा गाँव में ये सत्संग करते-कराते रहे। भीखापंथी इन्हें अपने पंथ का संत मानते हैं; परन्तु सतनामियों का कथन है कि भीखापंथ से इनका कोई संबंध नहीं था और उनका कहना यह भी है कि इनके गुरु विश्वेश्वरपुरी महाराज थे। इनके अनुयायियों की बाहरी पहचान यह है कि वे दाहिनी कलाई पर सफेद और काला धागा बाँधते हैं और महंतगण दोनों हाथों में धागा बाँधते हैं तथा चंद्राकार टोपी पहनते हैं और आबनूस की सुमिरनी धारण करते हैं। इनके उपदेशों में इनका अनुभव कूट-कूटकर भरा है। इनके रचे हुए सिद्धान्त-ग्रंथों में 'ज्ञान-प्रकाश', 'महाप्रलय' और 'प्रथम ग्रंथ' प्रमुख हैं।

संसार दुःख-रूप है—जब तक इसका अनुभव हमें नहीं हो पाता तब तक प्रभु के मिलन का आनन्द कैसा होता है, हम कैसे समझ सकते हैं? संसार में जीवमात्र जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के चक्कर में पड़े हैं और इससे छुटकारा होते नहीं दीखता। कोई भी संसार में ऐसा नहीं मिला जो दुःख से मुक्त हो। एक-न-एक दुःख सभी को लगा हुआ है। इसीलिये जगजीवन साहब कहते हैं—

पपिहा जाइ पुकारेउ, पंछिन आगे रोय।
तीनि लोक फिरि आयेउँ, बिनु दुख लख्यो न कोय॥

प्रियतम को ढूँढने के लिये जोगिन होकर संसार में निकला, कानों में कुंडल पहन लिया, जनम बीत गया; परन्तु पिय का पता न लगा—

जोगिन ह्वै जग ढूँढ़ऊँ, पहिर्यो कुंडल कान।
पिय का अंत न पायेऊँ, खोजत जनम सिरान॥

नैनों में प्रभु की मूर्ति छायी हुई है। चाँद-सूरज दोनों देख चुका हूँ; परन्तु कोई भी उस अपरूप रूप के समान नहीं ठहरता—

बैठि मैं रहेऊँ पिया सँग, नैनन सुरति निहारि।
चाँद-सूरज दोउ देखेउँ, नहिं उनकी अनुहारि॥

प्रभु का हाथ भक्त के मस्तक पर सदा है ही। एक क्षण भी प्रभु हमें बिसारता नहीं। एक क्षण के लिये भी वह हमसे अलग नहीं होता—

सदा सहाई दास पर, मनहिं बिसारे नाहिं।
'जगजीवन' साँची कही, कबहूँ न्यारे नाहिं॥

इसलिये जगजीवन साहब का यह उपदेश चिरस्मरणीय है—

सत समरथ तें राखि मन, करिय जगत को काम।
'जगजीवन' यह मंत्र है, सदा सुक्ख-बिसराम॥

प्रभु में मन रखकर संसार का काम करिये। यही मूल मंत्र संसार में सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करने के लिये जगजीवन साहब बतलाते हैं। सतनामी सम्प्रदाय में नित्य सबेरे उठकर नित्य कर्मों से निवृत्त होकर पूजा-पाठ और धूप करने का नियम है। मुख्य रूप से गुरु-मंत्र का जप तथा बीज-मंत्र का अजपा जाप हर समय करने का नियम है। सतनामी लोग

'अघ-विनाश' को वेद के समान पूज्य मानते हैं। इस संप्रदाय के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

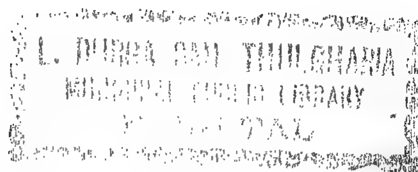
१—परमात्मा एक है, उसका रूप-रंग, आकार कुछ नहीं है।

२—अपने भक्तों की रक्षा के लिये ईश्वर नाना रूपों में अवतार लेता है।

३—भगवत्प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग है—भक्ति तथा प्रेम से युक्त होकर ईश्वर का मन से स्मरण करना।

४—सभी संत-महात्मा—जिन्होंने भगवान् को प्राप्त किया, वंदनीय हैं।

५—सरल रहन-सहन और अजपा जाप से ही ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है। जगजीवन साहब के शिष्यों में प्रमुख चार हुए—दूलनदास, गोसाईंदास, देवीदास और खेमदास। ये 'चारपावा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जगजीवन साहब ने ८० वर्ष की आयु में वैशाख सुदी ७, संवत् १८१७ में अपनी इहलीला समाप्त की।



महात्मा दूलनदास

राम नाम दुइ अच्छरे, रटै निरन्तर कोय।
'दूलन' दीपक बरि उठै, मन प्रतीति जो होय॥

नाम के प्रेमी, सरलता की मूर्ति, दया और विनय के स्वरूप महात्मा दूलनदासजी जगजीवन साहब के गुरुमुख चेले थे। इनके जीवन का वृत्तान्त प्रामाणिक रूप में नहीं मिलता। इतना सत्य है कि यह जगजीवन साहब के शिष्य थे। सत्तनामियों की मान्यता यह है कि दूलनदास का जन्म विक्रम सम्वत् १७१७ में हुआ। मिश्र-बंधुओं ने तो इनका रचनाकाल संवत् १८७० माना है, परन्तु सत्तनामियों की मान्यता के अनुसार इनका काल बहुत पहले ठहरता है। पूरी ११८ वर्ष की आयु भोगने के अनंतर आश्विन बदी ५ रविवार सं० १८३५ में आपने इहलीला संवरण की।

लखनऊ जिले के समेसी गाँव में सोमवंशी क्षत्रिय कुल में

एक बहुत सम्पन्न जमींदार रायसिंह के घर दूलन का जन्म हुआ। सरहदा गाँव में इन्होंने जगजीवन साहब से उपदेश ग्रहण किया और बहुत समय तक उनके सत्संग में कोटवा में बने रहे। भ्रमविनाश, शब्दावली, दोहावली, मंगलगीत, शिवजी की प्रार्थना आदि ग्रंथ आपने लिखे। अपने जीवन के अन्तिम भाग में ये रायबरेली में धर्मे नामक गाँव में सत्संग-साधन करते-कराते रहे इनके सम्प्रदाय का नियम यही है कि गृहस्थ धर्म में ही सदाचार और पवित्रता के साथ जीवन व्यतीत करते हुए चित्त को भगवान के चरणों में अर्पित करना चाहिये। ये लोग बाह्य त्याग को या 'भेष' को बहुत आवश्यक नहीं मानते न उसे महत्व ही देते हैं। इनके गुरु जगजीवन साहब भी आजीवन गृहस्थ ही रहे। इस सम्बध में दूलनदास की यह बात स्मरण रखने योग्य है—

> दया धरम हिरदे में राखहु, घर में रहहु उदासी।
> आन के जीव आपन करि जानहु, तब मिलिहैं अबिनासी॥

दूलनदास की बानी तथा साखियों को मनोयोगपूर्वक पढ़ने से यह पता चलता है कि ये 'नाम' के बहुत बड़े प्रेमी थे। डंके की चोट उन्होंने कहा है कि नाम का आश्रय ही एकमात्र निर्द्वंद्व आश्रय है, और इसके सिवा अन्य सभी मार्ग साधक को उलझाने वाले हैं—

> रहु तोहँ राम राम रट लाई।
> जाइ रटहु तुम नाम अछर दुइ, जौने बिधि रटि जाई॥
> राम राम तुम रटहु निरन्तर, खोजु न जतन उपाई।
> जानि परत मोहि भजन-पंथ यहि, और अरुझनि भाई॥

उस नाम-जाप की सहज रीति सुनिये—

> मंत्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै।
> होठ न डोलै, जीभ न बोलै, सूरत धरनि दिढ़ाइ गहै॥
> दिन औ रात रहै सुधि लागी, यह माला यह सुमिरन है।

नाम का महत्त्व बतलाते हुए दूलनदास ने बड़े ही भाव-पूर्ण शब्दों में गज के उद्धार, मीरा के विषपान तथा द्रौपदी के चीर-हरण की लीलाओं को गाया है। गाते-गाते वे थकते ही नहीं। नाम ऐसे अमृत को छोड़कर विषयों में रचा-पचा मानव मोह-विष को पी रहा है—

अछत नाम-पियूष परसहिं, मोह-माहुर पिया।

उस 'राम' का परिचय दूलनदास के शब्दों में ही सुनिये—

जनम दीन्ह है रामजी, राम करत प्रतिपाल।
राम राम रट लाय रे, रामहिं दीनदयाल हो॥
मात पिता गुरु रामजी, रामहिं जिन बिसराव।
रहो भरोसे राम के, तैं रामहिं से चित चाव हो॥
घर बन निस दिन रामजी, भक्तन के रखवार।
दुखिया दूलनदास को, रे राम लगइहैं पार हो॥

दीनता ही संतों की सहेली है। यह दीनता जगत की दीनता नहीं है। प्रभु चरणों की असीम अनुकम्पा और अपनी अपात्रता को देखते हुए चित्त में उपजी हुई समर्पण की भूमिका रूप दीनता है। यह दीनता ही समर्पण का श्रीगणेश है और इसीके सहारे भक्त भगवान् के चरणों में जुड़ता है। दूलनदास की दीनता देखिये उन्होंने इसमें अपना हृदय उँडेल दिया है—

साईं दरस माँगौं तोर।
आपनो जन जानि साईं मान राखहु मोर॥
अपथ पंथ न सूझ इत-उत प्रबल पाँचो चोर।
भजन केहि बिधि करौं साईं! चलत नाहीं जोर॥
मात लाइ दुरात काहे, पतित जन की ओर।
बचन अवधि अधार मेरे, आसरा नहिं और॥

हेरिये करि कृपा जन तन, ललित लोचन कोर।
दास दूलन सरन आयो, राम बंदी छोर॥

काम क्रोधादि पाँचों चोर इतने प्रबल हैं कि मुझे पथ-भ्रष्ट किये डालते हैं। हे प्रभु! इस दयनीय दशा में तुम्हारा भजन करूँ तो कैसे? मेरा एक भी तो जोर नहीं चलता। नाता लगाकर फिर दूर क्यों हटा रहे हो? पतितों के तुम्हीं तो एकमात्र आश्रय हो। तुम्हारा विरद ही मेरा एकमात्र आश्रय है। एक बार अपने जन पर कृपा दृष्टि से देखो। मैं तुम्हारी शरण हूँ, तुम्हारे सिवा मेरे बंधन को कौन काटे?

नाम रस का चसका जिसे एक बार लग जाता है उससे वह कभी छूटता ही नहीं—उसका मन, चित्त, प्राण, आत्मा सभी कुछ उस प्रियतम के नाम में ही आप्लावित रहता है—

नाम सनेही बावरे, दृग भरि भरि आवत नीर हो।
रस मतवाले रसमसे, यहि लागी लगन गँभीर हो॥
सखि इश्क-पियासे आशिकों, तजि दौलत दुनिया भीर हो।
सखि दूलन कासे कहै, यह अटपटि प्रेम की पीर हो॥

दुनिया के सारे झमेले अपने आप मिट गये। मैंने समझ-बूझकर फकीरी का रास्ता लिया है। हरि के चरणों की रज को नैनों का अंजन बना लिया, अब तो सारा जगत राममय हो गया।

दुनियाँ दुचिताई भूलि गई, हम समुझि गरीबी राह लई।
चरना-रज अंजन नैन दई, जन दूलन देखत राम मई॥

साईं से 'परिचय' हो जाने पर, जब मन उसके मिलन के रस में डूबने लगता है तो संसार की सभी भूख-प्यास सदा के लिये मिट जाती है। प्रेमी साधक रूप-रस के सागर में डुबकी लगाकर नैनों से हरि का रस पीने लगता है। साधक की यह मधुर स्थिति कितनी मधुर, कितनी गोपनीय है।

सखिया इक पैठी जल भीतर, रटत पियास पियास हो।
मुख नहिं पिये, चिरुआ नहिं पीये, नैनन पियत हुलास हो॥

परम प्रियतम 'राम' की प्रीति प्राप्त करने के लिये दूलनदास ने श्री हनुमानजी का स्मरण किया है। संत-साधना में अवश्य ही यह बात अनोखी है।

सुमिरौं मैं रामदूत हनुमान।
समरथ लायक जन सुखदायक, कर मुश्किल आसान॥
रहौं असंक भरोस तुम्हारे, निसदिन साँझ बिहान।
दूलनदास के परम हितू तुम, पवनतनय बलवान॥

अपनी अनुभव भरी साखियों में दूलनदास ने नाम की महिमा को बड़े ही अनुपम ढंग से गाया है। इन साखियों का चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। वे सभी एक से एक अनमोल हैं। विश्वास के साथ, मन को मारकर नाम की साधना में प्रवृत्त करने की प्रेरणा इन साखियों में ओत-प्रोत है। इनका उद्देश्य किसी प्रकार का 'उपदेश' नहीं है—ये तो संत-हृदय की मधुर स्निग्ध अनुभूति मात्र हैं—

सुनत चिकार पिपील की, ताहि रटहु मन माँहिं।
दूलनदास बिस्वास भजु, साहिब बहिरा नाहिं॥
चितवन नीची, ऊँच मन, नामहिं जिकिर लगाय।
दूलन सूझै परमपद, अंधकार मिटि जाय॥
दूलन केवल नाम लिया, तिन भेंटउ जगदीस।
तन-मन छाकेउ दरस-रस, थाकेउ पंच पचीस॥

जो चींटी की भी पुकार सुनता है उस प्रभु का विश्वास कर भजन करो। वह तुम्हारी प्रार्थना अवश्यमेव सुनेगा। दृष्टि को नीची करके और मन को ऊँचा करके 'नाम' में लग जाओ। परम

पद की प्राप्ति होगी, अंधकार सदा के लिये मिट जायगा। जिसने केवल 'नाम' का ही आश्रय ले लिया उसे भगवान् के दर्शन प्राप्त हो गये और जब दरस-परस का 'रस' मिल गया तो समस्त वृत्तियाँ अपने आप स्थिर हो गयीं!

'फकीर' की परिभाषा दूलनदासजी यों करते हैं—

दुलन भरोसे राम के, तन तकिया धरि धीर।
रहै गरीब यतीम होइ, तिनकौं कहौ फकीर॥

राम नाम का भरोसा करके शरीर को दृढ़ता के साथ संयम में रक्खे। संसार में अनाथ, अनाश्रित, यतीम (मातृ-पितृ-विहीन) बालक की तरह रहे—संसार में किसी का भी आश्रय न ले। किसीका आसरा न करे। फकीर उसीको कहते हैं।

दूलनदासजी के उपदेश कितने अनमोल और अनुभवपूर्ण हैं यह पढ़ते ही झलकने लगता है—

दूलन यह परिवार सब, नदी-नाव-संजोग।
उतरि परे जहँ तहँ चले, सबै बटाऊ लोग॥
बंधन सकल छुड़ाइ करि, चित चरनन तें बाँधु।
दुलनदास बिस्वास करि, साईं कौं औराधु॥
दूलन चरनन लागि रहु, नाम को करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुँ सिखा लिलार॥
जग रहु, जगतें अलग रहु, जोग जुगुति की रीति।
दूलन हिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति॥
साईं तेरी सरन हौं, अब की मोहिं निवाज।
दूलन के प्रभु राखिये, यहि बाना की लाज॥

इनके उपदेशों में नाम की महिमा बार-बार आती है; क्योंकि इनका विश्वास है कि उस परम प्रियतम 'माशूके आलम' से मिलने का एकमात्र साधन है प्रीतिपूर्वक नाम-स्मरण—

नाम सुमिरु मन मुरुख अनारी।
छिन छिन आयू घटत जातु है, समुझि गहहु सत डोरि सँभारी॥
यह जीवन सुपने को लेखा, का भूलसि झूठी संसारी।
अंतकाल कोई काम न अइहै, मातु पिता सुत बंधू नारी॥
दिवस चारि को जगत सगाई, आखिर नाम सनेह करारी।
रसना 'सत्त नाम' रटि लावहु, उघरि जाइ तोरि कपट किवारी॥
नामकि डोरि पोढ़ि धरनी धरु, उलटि पवन चढ़ु गगन अटारी।
तहँ सत साहिब अलख रूप है, जन दूलन करु दरस दिदारी॥

इश्क हकीकी का वर्णन करते हुए दूलनदासजी ने हल्लाज मंसूर, शम्सतबरेज, निजामुद्दीन सुलतान, हाफिज, मजनूँ तथा अपने गुरुदेव जगजीवन साहब का नाम लिया है। मजनूँ के संबंध में उनकी पंक्तियाँ बड़ी ही मर्मभरी हैं—

सुना है इश्क मजनूँ का लगी लैला की रहती झक।
जलाकर खाक तन कीना, हुए वह भी उसी माफिक॥

इनकी साधना की साध भी कितनी सुन्दर है—

है रस मगन पियौं भर प्याला माला नाम डोलैहौं।
कह दूलन सतसाईं जगजीवन पिउ मिलि प्यारी कहैहौं॥

गुलाल साहब

तन-मन-धन बाजी लागी हो,

चौपड़ खेलूँ पिव से रे

तन-मन बाजी लगाय ।

हारी तो पिय की भई री

जीती तो पिय मोर हो ॥

—कबीर

'एक अँधेरी रात में प्रेम की चिन्ता से आक्रान्त होकर मैं अपने मकानसे , जहाँ पूरा सन्नाटा था, बाहर निकली । किसी ने मुझे देखा नहीं, न देख सकता था ।

मैं रात में छिपकर एक गुप्त सीढ़ी से ऊपर चढ़ी ।

क्या पवित्र रात थी ! मुझे कोई नहीं देख सकता था । मैं भी कुछ नहीं देख सकती थी । मेरे हृदय में एक दीपक जल रहा था ; वही मुझे रास्ता दिखला रहा था । उसका प्रकाश दोपहर के

सूर्य के प्रकाश से अधिक स्थिर था। वह प्रकाश मुझे वहाँ ले गया जहाँ मैं जानती थी कि 'एक' मेरे आने की प्रतीक्षा कर रहा है।

आह! वह रात प्रभात से भी अधिक सुहावनी थी। उस रात ने प्रेमी को प्रियतम के दर्शन कराये, प्रेमी और प्रियतम का आनन्दमय विवाह कराया।

अपने पुष्पित वक्ष पर जहाँ सिवा उसके और किसी के लिये स्थान नहीं है, 'मैंने अपने प्रियतम को सुलाया।'

ये उद्गार, आत्मा के अभिसार का यह भावपूर्ण वर्णन, ईसाई संत—सेन्ट जॉन ऑव दी क्रॉस का है। प्रायः सभी संतों ने अपने आध्यात्मिक परिणय तथा मिलन के उल्लासमय गीत गाये हैं। क्योंकि संत-जीवन में आनन्द और प्रेम की जो अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है, उसका मूल स्रोत इस 'विवाह' और 'मिलन' में ही है।

गुलाल साहब उसी आनन्द में छके हुए अलमस्त गा रहे हैं—

पावल प्रेम पियरवा हो ताहि रे रूप।
मनुवा हमार बियाहल हो ताहि रे रूप॥
ऊँच अटारी पिया छावल हो ताहि रे पर।
गुरु गम गाँठि दिआवल हो ताहि रे पर॥
मोतियन चौक पुरावल हो ताहि रे पर।
अगम धुनि बजन बजावल हो ताहि रे पर॥
दुलहिन-दुलहा मन भावल हो ताहि रे मन।
भुजभर कंठ लगावल हो ताहि रे मन॥
गुलाल प्रभुवर पावल हो ताहि रे पद।
भगुवा सीस नवावल हो ताहि रे पद॥

इस 'मिलन' की बात करना बहुत आसान है; परन्तु इसकी साधना तथा वास्तविक अनुभूति अत्यंत कठिन है। जब संसार के सारे भोग और विषय छूट जाते हैं, तो भगवत्प्रेम का अंकुर हृदय में उगता है और वही अंकुर साधना का जल पाकर तथा प्रभु-कृपा का प्रकाश पाकर धीरे-धीरे बढ़ता है—पल्लवित-पुष्पित होता है और समय पाकर समस्त हृदय को छा लेता है। यही लता जब लहलहा उठती है, तो भीतर का 'पंछी' उस मादकता से बेसुध होकर, उस गन्ध में पागल होकर, उस शोभा-श्री का गीत गा उठता है। संतों की जो कुछ भी वाणी मिलती है, वह उनके आभ्यन्तरिक आनन्द के ज्वार तथा उभार की एक हलकी लहर-सी है। उसमें उनके भीतर के समुद्र का एक गंभीर गर्जन सुन पड़ता है। समुद्र की अतल गहराई तथा अनन्त विस्तार का पता तो 'भीतर' पैठे बिना, उस आनन्द-रस-सागर में डूबे बिना क्या लगे? इसके लिये तो भीतर लौटना पड़ता है और फिर डूबना पड़ता है अपने ही अन्तर के अगाध सागर में!

गुलाल साहब का पार्थिव परिचय अन्य संतों की भाँति ही बहुत कम मिलता है। आत्मगोपन ही संतों का आभूषण है। वे जान-बूझकर अपने को कभी भी प्रकाशित होने देना नहीं चाहते। संसार जाने—जहाँ तक यह अभिलाषा है, वहाँ तक संत-जीवन का श्रीगणेश भी नहीं हुआ, ऐसा मानना चाहिये। व्यक्तित्व की वासना से ऊपर उठने पर ही प्रभु-प्रेम के मार्ग में बढ़ा जा सकता है, और जब तक इस काया और इस नाम को ही इतिहास में उतारने का लोभ लगा हुआ है, जब तक मत, पंथ, संप्रदाय की परम्परा चलाकर अपने अमरत्व को सिद्ध करने की मिथ्या चेष्टा या प्रवृत्ति बनी हुई है तब तक संत-मार्ग से हम लाखों कोस दूर हैं—उसपर चलना तो अभी होगा ही कैसे? संत जमात नहीं

बाँधते, संत पंथ नहीं चलाते। जहाँ प्रभु के दर्शन और मिलन की एकमात्र चाह है वहाँ अन्य चाहों के लिये अवकाश ही कहाँ है; और जबतक दूसरी चाह के लिये भी स्थान है, वहाँ यही समझना चाहिये कि प्रभु-मिलन की चाह सर्वथा मंद है या है ही नहीं। इस क्षण-भंगुर नित्य बनने-मिटनेवाली काया की क्या कथा लिखी जाय? इसमें लिखने योग्य बात है ही क्या? इसे इतना महत्त्व ही क्यों प्रदान किया जाय? जन्मे, दुःख भोगा, अभाव की पीड़ा सही, अपनों का बिछोह झेला और फिर एक दिन आँखें मुँद गयीं। इतनी ही तो कहानी है, इसे तूल क्यों दिया जाय?

इस तन धन की कौन बड़ाई।
देखत नैनों मिट्टी में मिल जाई॥

भारतीय संतों ने ही नहीं, समस्त संसार के सच्चे संतों ने सदा अपने को छिपाया ही है और उनके जीवन की अधिकांश बातें गुप्त ही रही हैं। शिष्यों ने प्रायः परंपरा चलाने के लिये कहीं की ईंट, कहीं का पत्थर जोड़ लिया है।

गुलाल साहब जाति के क्षत्रिय, बुल्ला साहब के गुरुमुख शिष्य, जगजीवन साहब के गुरुभाई और भीखा साहब के गुरु थे। यह जगजीवन साहब के समकालीन थे और इसी आधार पर इनके जीवन का समय वि० संवत् १७५०—१८०० माना जाता है। ये पढ़े-लिखे तो नहीं थे; परन्तु थे मँजी हुई बुद्धि के। किसानी का काम करते थे। अपने घर इन्होंने बुलाकी राम को, जो पीछे जाकर बुल्ला साहब कहलाये—हरवाहा रख छोड़ा था। बुल्ला साहब भजनानंदी जीव थे। जब इन्हें भजन का सरूर चढ़ता, तो कितना भी आवश्यक कार्य कोई क्यों न हो, उसे ताक पर रख देते थे। एक दिन हल-बैल लेकर वे खेत में पहुँचे। भगवान् की स्मृति उमड़ आयी और खेत में ही बैठकर लगे ध्यान का आनंद लेने। ध्यान

में बैठे-बैठे वे साधुओं का भण्डारा कराने लगे। इतने में ही इनके मालिक गुलाल साहब पहुँचे और अपने नौकर को 'बेकार' बैठे देखकर क्रोध से उनकी पीठ पर कस कर लात जमा दी। इतने में क्या देखते हैं कि बुलाकी राम के हाथ से दही छलक पड़ा। गुलाल साहब बड़े आश्चर्य में पड़ गये। अन्त में जब बुलाकी राम ने सारा वृत्तान्त सुनाया, तो वे उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने बुलाकी राम को गुरु-रूप में वरण किया। गाजीपुर जिले के बसहरि तालुका में अपने गुरु-धाम भुरकुड़ा ग्राम में गुलाल साहब अपने गुरुदेव का सत्संग करते रहे और उनकी महासमाधि के अनंतर वे भगवत्प्रेमी भक्तों को सत्संग कराया करते तथा उपदेश दिया करते थे। वे अंत तक गृहस्थाश्रम में ही रहे। गुलाल साहब साधुगति के प्रेमाश्रयी संत थे। उनकी बानियों में उनकी अविरल भक्ति और निर्भ्रम ज्ञान तथा जगत् के प्रति विमल विरक्ति झलकी पड़ती है।

अपनी लगन के संबंध में वे एक स्थान पर कहते हैं—

संसय मेटि करै सतसंगति, प्रेम-पंथ पर धावै।
सुन्न नगर में आसन मौंड़े, जगमग ज्योति जगावै॥
आवागमन न होइहै कबहीं, सतगुरु सत्त लखावै।
कहै गुलाल यह लगन हमारी, बिरला जन कोई पावै॥

मनुष्य संसार के विषयों में इतना रचा-पचा हुआ है कि उसे वस्तुतः एक क्षण का भी अवकाश नहीं मिलता जिसमें वह सोच सके कि वह कहाँ से आया, क्यों आया और यहाँ आकर उसका क्या कर्त्तव्य है। इस माया के बाजार में मनुष्य अपने को खो बैठा है और ऐसी भूल-भुलैया में जा फँसा है कि उससे बाहर निकलना असंभव-सा हो रहा है। इस चक्कर से बाहर खड़े होकर गुलाल साहब पुकार रहे हैं, चेता रहे हैं—

तुम जात न जान गँवारा हो।
को तुम आहु कहाँ ते आयो, झूठो करत पसारा हो॥
माटी के बुंद पिंड के रचना, तामें प्रान पियारा हो।
लोभ-लहरि में मोह को धारा सिरजनहार बिसारा हो॥
अपने नाह को चीन्हत नाहीं, नेम-धरम आचारा हो।
सपनेहुँ साहब सुध नहिं जान्यो जमदुत देत पछारा हो॥

रे मन! तू कहाँ भरम रहा है? नेक सोचो तो सही कि तुम कौन हो, कहाँ से आये हो और तुम्हारा यहाँ क्या कर्तव्य है। यह व्यर्थ का प्रपंच-विस्तार किसलिये? एक बूँद से यह शरीर बना और इसमें प्रभु ने प्राण डाल दिया। यहाँ इस जगत में आकर लोभ की लोल लहरों तथा मोह की विकट धारा में पड़-पड़कर तुमने अपने सिरजनहार को बिसार दिया है। अपने प्राणधन से तो परिचय नहीं करते और दुनिया भर का नेम-व्रत करते फिरते हो। 'वह' तो प्रेम से, एकमात्र प्रेम से रीझते हैं और तुम लगे हो व्यर्थ के षट्कर्म में। स्वप्न में भी उनकी, उनके प्रेम की सुध नहीं आती? सेमर का फूल सेते ही जीवन बीता! परंतु मौत किसी पर मुरौव्वत क्यों करने लगी......!! तुम धन-पुत्र-कलत्र के चक्कर में ही पड़े रहे और लो वे—यमदूत—तुम्हें लेने के लिये आ गये! इतना सुन्दर, ऐसा अनमोल जीवन तुमने अकारथ ही गँवा दिया! परन्तु कोई चिन्ता नहीं, अब भी तू सँभल जा और—

भजन करु मनुवाँ बैरागी।
काम-क्रोध-मद-ममता त्यागो प्रभु-चरनन महँ पागी॥
सुत-हित-नारि-बंधु परिजन जग कहत हैं स्वारथ लागी।
झूठी सेय सेमर-फल चाखो अमृत फल कहँ त्यागी॥

विष भोजनहिं पाइ मति सोवहु सत्त शब्द हिये जागी ।

जन गुलाल सत गुरु बलहारी मन में सो मन लागी ॥

मनुष्य जो वस्तु खोज रहा है वह तो ठीक ही है ; परन्तु जहाँ खोज रहा है वहाँ वह वस्तु है नहीं, और जब वह वहाँ है ही नहीं, तो मिले कैसे ? मनुष्य 'सुख', 'आनन्द' खोज रहा है ; परन्तु वह खोज रहा है उसे इस जगत के विषयों में; सारी भूल यहीं है। यहाँ तो सब कुछ उठती पैठ का तमाशा है ; कुछ भी स्थिर नहीं, कुछ भी स्थायी नहीं, कुछ भी टिकनेवाला नहीं, और फिर इस नश्वर से भीतर की भूख-प्यास बुझेगी ही कैसे ? अँधेरे घर में जैसे बालक टटोलता फिरे, वही दशा हमारी है। द्वार खोलकर हम बाहर आना नहीं चाहते ; फिर ज्योति कैसे मिले, प्रकाश कैसे पावें ? "While the husks of the world satisfy him, God leaves him to his enjoyment of them: for God doth know that having incorporated some of his own divine being within humanity there is in man a hunger for something that husks will satisfy only for a time."

मनुष्य खोज तो रहा है भगवान् को ; परन्तु वह जगत के तुच्छ विषयों में ही सुखानुभूति कर विरम-सा जाता है। भगवान् भी सोचते हैं कि अच्छा यह जगत से अपनी भूख-प्यास बुझा तो ले। परन्तु सीमा में असीम का, भूमा का आनन्द, 'रसो वै सः' का सुख कहाँ मिले ? इसलिये मनुष्य यहाँ और वहाँ, इसमें और उसमें टकराकर अन्ततः इनसे निराश होकर हरि की गोद में ही लौटता है ; क्योंकि सच्चा आनन्द, वास्तविक आनन्द तो वहीं है।

राम मोर पुंजिया राम मोर धना ।
निस-बासर लागल रहु मना ॥
आठ पहर तहँ सुरति निहारी ।
जस बालक पाले महतारी ॥
धन सुत लछमी रह्यो लोभाय ।
गर्भमूल सब चल्यो गँवाय ॥
बहुत जतन भेख रचो बनाय ।
बिन हरि भजन इन्दोरन पाय ॥

अन्तिम पंक्ति का भावार्थ यह है कि संसार में सब कुछ किया, परन्तु यदि हरिभजन, भगवान् का स्मरण नहीं किया, तो उसे इन्दोरन ही हाथ लगा। इन्दोरन एक फल का नाम है जो देखने में सुन्दर लाल रंग का होता है; परन्तु होता है बहुत ही कड़वा। वह देखने भर को सुन्दर होता है, किन्तु भीतर विष भरा रहता है। भगवान् के बिना जगत का यही स्वरूप है।

मन जैसे-जैसे जगत से हटता और प्रभु में लगता जाता है, वैसे-वैसे विचित्र अनुभव होते हैं। साधन-मार्ग में यह सन्धि-काल बड़ी कठिनाई से बीतता है। जगत अपनी पूरी शक्ति के साथ खींचने की चेष्टा करता है, वह साधक को फिसलाने के लिये नाना प्रकार के प्रलोभन का जाल बिछाता है। पग-पग पर गिरने का डर बना रहता है। कभी-कभी घोर निराशा भी छा जाती है, अंधकार में अपना ही हाथ नहीं सूझता, चारों ओर से जब संबंध के डोरे पटापट टूटने लगते हैं, तो अपने ही हृदय में अपने प्रति घोर विद्रोह की ज्वाला जल उठती है। इस अवस्था का अनुमान वे ही लगा सकते हैं जो इससे गुजरे हैं या गुजर रहे हैं। संतमार्ग में चलनेवाले प्रायः प्रत्येक पथिक को विषाद की इस

अमावास्या (Dark Night of the Soul) से गुजरना पड़ता है। एक ऐसा समय आता है, जब प्रभु की प्रीति का सुख एक ओर से मिलता रहता है और दूसरी ओर से जगत के संबंधों के टूटने का घोर विषाद रहता है। मनुष्य कुछ निश्चय नहीं कर पाता कि वह किसे ग्रहण करे, किसे छोड़े। जगत की रमणीयता एक ओर आकृष्ट करती है, भगवान् का प्रेम एक ओर। इस द्वन्द्व के भीतर कभी-कभी कितने ही साधक विपथ हो जाते हैं। परंतु भगवान् की दया ठीक उसी समय उसकी सहायता के लिये आगे बढ़ती है; क्योंकि जीव जहाँ हरि के सम्मुख हुआ नहीं कि उसके सारे आवरण हटे नहीं—"Nevertheless when the heart shall turn to the lord, the veil shall be taken away" और पर्दा हटने पर अपने ही भीतर के आनन्द-सागर का जब दर्शन हो जाता है, तो बाहर का भटकना अपने ही आप बंद हो जाता है।

आजु झरि बरखत बुंद सोहावन।
पिया के रीति-प्रीति छबि निरखत पुलकि-पुलकि मनभावन॥
उमग्यो सागर सलिल नीर भरो चहुँदिसि लगत सोहावन।
उपज्यो सुख सन्मुख तिरपित भयो सुधि-बुधि सब बिसरावन।
काम क्रोध मद लोभ छुट्यो सब अपने हि साहब भावन।
कह गुलाल जंजाल गयो तब हरदम भादों सावन॥

कई लोग काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि को मारने में ही जीवन लगा देते हैं; परन्तु नहीं मार पाते, प्रत्युत् अवसर पाते ही काम क्रोधादि उन्हें वशीभूत कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि काम क्रोधादि को जहाँ मिटाने की साधना हो रही है, वहीं भगवान् की प्रीति प्राप्त करने की लालसा भी प्रबल होनी चाहिये

और सच बात तो यह है कि सारे दोषों को मिटाने का एकमात्र साधन है हृदय में भगवान् का आवाहन । भगवान् के आते ही हृदय के सारे कल्मष स्वतः झड़ जाते हैं। फिर काम क्रोधादि से लड़ना नहीं पड़ता ; वे स्वयं परास्त होकर भाग जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार। हाँ, यह बात और है कि सूर्योदय के पूर्व का अंधकार कभी-कभी इतना घना होता है कि सूर्योदय कब होनेवाला है यह पता ही नहीं चलता । इसी पर एक ईसाई संत ने कहा है—

"When night is at its darkest, the dawn is at hand."

निर्गुणिये संतों की प्रेम-भक्ति तथा भगवान् के रूप की उपासना करनेवाले भक्तों की प्रेम-भक्ति में मूलतः कोई विशेष भेद हो, ऐसी बात नहीं है। हाँ, निर्गुण साधना में अपने ही भीतर षट्चक्र-भेदन तथा कुंडलिनी जागरण के द्वारा ज्योतिर्दर्शन होता है और सुरत-योग की साधना ही विशेष रूप से इस मार्ग में चलती है। परंतु जिस आवेग, तल्लीनता तथा प्रीति के साथ भक्तों ने भगवान् को पुकारा और उन्हें हृदय से लगाया है, ठीक उसी आवेग से संतों ने भी। भक्त और संत का जो अंतर अब तक हम मानते आये हैं, वह वस्तुतः उतना नहीं है जितना हम मानते हैं। सदाचार, जगत् के विषयों के प्रति दृढ़ विरक्ति, प्रभु में हृदय की पूर्ण आसक्ति, नाम-स्मरण, स्वरूप-चिन्तन, एकान्त-सेवन आदि साधन भक्ति-मार्ग और संत-मार्ग में समान रूप से हैं। अंतर तो केवल नाम का है।

अजपा जाप तथा अखण्ड नाम-स्मरण के रस में छका हुआ हृदय भगवान् की सन्निधि को पाकर कितना विह्वल हो उठता है, इसका वर्णन गुलाल साहब करते हैं—

अबिगत जागल हो सजनी।
साँझ समय उठि दीपक बारल॥
कटल करमवा मनुवा पागल हो सजनी॥

तथा

आजु मोरे अनँद बधावा जियरा कुहकेला सुनत-सुनत सुख पाय॥
पाँच-पचीस तिनि चाचरि गाँवहिं सो सुख बरनि न जाय॥
गगन-मंडल में रास रचो है झमक रहो है छाय॥
प्रेम-पियारा प्रगट भयो जब ब्रह्म पदारथ पाय॥
थकित भयो सुधि-बुधि हर लीन्हों इत-उत कहीं न जाय॥
कहैं गुलाल भक्ति बर पायो कूटलि सबहिं बलाय॥

भगवान् में एकता ही जीव का सत् स्वरूप है और यह वियोग जो हम भेल रहे हैं या सह रहे हैं, हमारी सच्ची स्थिति नहीं है। स्वरूप-दर्शन तथा उसमें पूर्णतः अवस्थिति के लिये बहुत-बहुत सिर पचाने या शास्त्र छानने की कोई आवश्यकता नहीं। बच्चा जिस प्रकार सहज ही अपनी माता को पहचानता है—ठीक उसी प्रकार जीव सहज अवस्था में अपने 'पीव' को पकड़ता है। इसके लिये प्रेम ही मुख्य साधन है। इसीलिये गुलाल साहब ने प्रेम-साधना को ही संत-साधना का प्राण माना है—

जो पै कोइ प्रेम को गाहक होई।
त्याग करे जो मन की कामना, सीस दान दे सोई॥
और अमल की दर जो छोड़े, आपु अपन गति जोई।
हरदम हाजिर प्रेम-पियाला, पुलकि-पुलकि रस लेई॥
जीव पीव महँ पीव जीव महँ, बानी बोलत सोई।
सोई सभन महँ हम सबहन महँ, बूझत बिरला कोई॥
वाकी गति कहा कोइ जाने, जो जिय साँचा होई।
कह गुलाल वे नाम सयाने, मत भूले नर कोई॥

यह 'प्रेम' श्रीगुरु-मुख से प्राप्त 'नाम' के अखण्ड स्मरण से सहज ही प्राप्त हो जाता है। इसके सिवा कोई भी साधन है नहीं। 'नाम' चेतन होकर हृदय-गुफा में सहज ही विद्युत्-स्फुरण की भाँति स्फुरित होने लगे, नाम का कोमल प्रकाश हृदय में जगमगा उठे, उसकी स्निग्ध किरणों से हृदय का कोना-कोना प्रकाशित हो जाय, उसके मधुर रस में हृदय पगा रहे, उसी में पूर्णतः डूब जाय, उसी में छका रहे, तभी प्रेम की वास्तविक अनुभूति होती है। इस रसानुभूति का जो द्वैत और अद्वैत से परे है, जिसमें द्वैत-अद्वैत दोनों ही हैं और एक भी नहीं, कोई शब्दों में वर्णन करना चाहे भी तो कैसे करे ?

जगत सुफल भैलो हो हम धनि पिया की पियारी।
सोरहो सिंगार सँपूरण पहिरल देखल रूप निहारी।
सत्त तिलक दे माँग सँवारल बिनवल अँचरा पसारी॥
आठ पहर धुनि नौबति बाजै सहज उठै झनकारी।
रीझि-रीझि नेवछावर वारौं मुक्ता भरि-भरि थारी॥
गगन मँडल में परमपद पावल जमहिं कइल घर छारी।
जन गुलाल सोहागिन पिय सँग मिल लो भुजा पसारी॥

Behold ! The bridegroom cometh !
Go ye forth to meet Him !

केशवदास की 'अमीघूँट'

'कविप्रिया' और 'रामचन्द्रिका' के कवि आचार्य केशवदास के संबंध में यहाँ चर्चा नहीं हो रही है। ये केशवदास निर्गुणिये संत थे। इनके जीवन के संबंध में बहुत ही थोड़ी बातें मिलती हैं और वह इतना ही कि ये जाति के वैश्य थे, यारी साहब के चेले और बुल्ला साहब के गुरुभाई थे। इसी पुनीत गुरु-घराने में गुलाल साहब, भीखा साहब और पलटू साहब संत प्रगट हुए। इनका समय सन् १६८० से १७६५ माना जा सकता है। इनका और साहित्य उपलब्ध नहीं है, केवल 'अमीघूँट' मिलता है।

साधु की गति के संबंध में आपने लिखा है—

अविचल अगम अगाध, साध गति लखै न कोई।
प्रेम-प्रकाश बाल आकासहिं, निसदिन होई॥

अपने गुरुदेव यारी साहब के नाम का संकेत एक स्थान पर इन्होंने किया है—

निर्गुन राज समाज है, चँवर सिंहासन छत्र।
तेहिं चढ़ि यारी गुरु दियो, केसोहिं अजपा मंत्र॥

अर्थात् निर्गुण राज्य के सिंहासन पर बैठकर जहाँ चँवर ढुल रहे थे, छत्र और चँदोवे तने हुए थे, मेरे गुरुदेव यारी ने मुझ केशव को अजपा मंत्र प्रदान किया।

और उस घड़ी का, जब गुरु ने मंत्र प्रदान किया था, केशव ने और संतों की तरह बड़े उत्साह से स्मरण किया है—

धनि सो घरी धनि वार, जबहिँ प्रभु पाइये।
प्रकट प्रकास हुजूर, दूर नहिँ जाइये॥

केशवदास के ध्यान का आनन्द अपना निराला ही है। बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उन्होंने अपने हृदय के मधुर भाव को व्यक्त किया है—

नहिँ जाइ दूर हुजूर साहिब फूलि सब तन में रह्यो।
अमर अछय सदा जुगन जुग, जक्त दीपक उगि रह्यो॥
निरखि दसो दिसि सर्व शोभा, कोटि चन्द सुहावनं।
सदा निरभय राज नित सुख, सोई केसो ध्यावनं॥
पूरन सर्व निधानं, जानि सोइ लीजिये।
निर्मल निर्गुन कंत, ताहि चित दीजिये॥

उस 'कंत' को देखते हुए आप का जी अघाता नहीं—

निरखि आपु अघात नाहीं, सकल सुख रस सानिये।
पियहि अमृत सुरति भर करि, संत बिरला जानिये॥
कोटि बिस्नु अनन्त ब्रह्मा, सदा सिव जेहि ध्यावहीं।
सोइ मिल्यो सहज सरूप केसो, अनँद मंगल गावहीं॥

उस अविनासी दूलह और निर्मल कंत का दर्शन कीजिये—

निरमल कंत संत हम पाया।
कोटि सूर जाकी निर्मल काया॥

प्रेम बिलास अमृत-रस भरिया।
अनुभौ चँवर रैन दिन ढुरिया॥
आनंद - मंगल सोऽहं गावैं।
सुखसागर प्रभु कंठ लगावैं।
सत्य पुरुष धुनि अति उजियारी।
कोटि भानु-ससि छबि पर वारी॥
तेज - पुंज निर्गुन उँजियारा।
यह केसो सोइ कंत हमारा॥

उसी के रूप पर केशवदास अपने आपको खोये हुए हैं—

पिय - थारे रूप भुलानी हो।
प्रेम ठगौरी मन हर्‌यो, बिन दाम बिकानी हो॥
भँवर कँवल रस बेधिया, सुख - स्वाद बखानी हो।
दीपक ज्ञान पतंग सों, मिलि जोति समानी हो॥
सिंधु भरा जल पूरना, सुख सीप समानी हो।
स्वाति बुंद सों हेतु है, ऊरध मुख लगानी हो॥
नैन स्रवन मुख नासिका, तुम अंतर आनी हो।
तुम बिनु पलक न जीजिये, जस मीन अरु पानी हो॥
व्यापक पूरन दसौ दिसि, परगट पहिचानी हो।
केसो थारी गुरु मिले, आतम रति मानी हो॥

'रूप' पर रीझे हुए हृदय को अपने प्राणप्यारे के सिवा और किसी से कोई मतलब नहीं रहता। भँवरे ने कमल का रस पी लिया है अब और कहीं वह क्यों भटकेगा? प्रेमी प्रियतम इसी प्रकार मिल गये—जैसे सूरज में दीपक की ज्योति समा जाती है। समुद्र जल से भरा हुआ है; परन्तु सीपी को तो स्वाति के बुंद की ही कामना है। इसीलिये आकाश की ओर मुँह किये हुए वह

भरं समुद्र में प्यासा ही रहता है। श्रवण, नैन, मुख, नासिका इन सबके भीतर जो शक्ति है—अर्थात् श्रवण का सुनने की, नैन का देखने की, मुख का आस्वादन की, नासिका का घ्राण की—उस सबके केंद्र में उस अन्तर्यामी की शक्ति ही कार्य कर रही है; नहीं तो ये रहते हुए भी नहीं के समान हो जायँ।

और, सभी संतों ने एक स्वर से गाया है कि जीव का तब तक कल्याण हो नहीं सकता जब तक प्रभु के साथ उसकी 'सगाई' न हो जाय। सच्चे आनन्द का मूल उत्स भी यही है। केशवदास ने गाया है—

हमारे हरिजू सूँ जूरलि सगाई हो।
तन-मन-प्रान दान दै पिय को, सहज सरूपम पाई हो॥
अरध उरध के मध्य निरंतर, सुखमन चौक पुराई हो।
रवि-ससि कुंभक अमृत भरिया, गगन मंडल मठ छाई हो॥
पाँच सखी मिलि मंगल गावहिँ, आनन्द तूर बजाई हो।
प्रेम-तत्त दीपक उँजियारो, जगमग जोति जगाई हो॥
साध संत मिलि कियो बसीठी, सतगुरु लगन लगाई हो।
दरस-परस पतिब्रता पिय की, सिव घर सक्ति बसाई हो॥
अमर सुहाग भाग उँजियारो, पूर्व प्रीति प्रगटाई हो।
रोम-रोम मन रस के बसि भइ, केसो पिय मनभाई हो॥

यहाँ योग की कुछ क्रियाओं का संकेत है—रवि-ससि का अर्थ है दाहिना और बायाँ साँस—रवि कहते हैं दाहिने को, ससि कहते हैं बायें को। पाँच सखी का अर्थ है पञ्च प्राण। शिव-शक्ति के सामरस्य का इतना सुन्दर पद जिसमें सांगोपांग वर्णन हो, बहुत कम मिलता है। इस पद का भाव अनुभवी पुरुषों को विशेष आनन्द देगा जिनकी इस पथ में कुछ गति है। बाहर-बाहर से मिलन के आनन्द की जो निगूढ़ व्यञ्जना है, वह तो है ही।

भीखा साहब

लोक-परलोक के सारे सुख, वैभव, विलास और मोह को ठुकराकर परमार्थ-पथ के पथिक जब अपनी अलमस्ती में कोई अपने अनुभव की बात हमें सुनाते हैं, तो एक बार हमारे हृदय में गुदगुदी होने लगती है। वे अपने अनुभव कहने नहीं बैठते; आनन्द का ज्वार उमड़कर उन्हें गाने के लिये विवश कर देता है। वे गा उठते हैं; क्योंकि गाये बिना वे रह नहीं सकते। संग्रह और परिग्रह के चक्कर में पड़ा हुआ मनुष्य उनकी अलमस्ती, उनके फक्कड़पन को क्या समझे?

संत तो राजाओं का राजा, बादशाहों का बादशाह है, शाहंशाह है। दुनिया के शाहंशाह उसके शतरंज की मुहरें हैं। फक्कड़पन, अलमस्ती, बेहोशी और लापरवाही ही उसकी सम्पत्ति है। पृथ्वी ही उसकी सुकोमल शय्या है। जहाँ जी में आया सो रहा। सिर के नीचे अपनी बाँह का कोमल उपधान, मुलायम

तकिया लगा लिया। और चँदोवा ? चँदोवा भी उसका कितना सुन्दर है—नीला-नीला आकाश जिसमें सूरज, चाँद और तारों के छोटे-बड़े, रुपहले, सुनहले सुन्दर जगमगाते हुए लट्टू लटक रहे हैं। मन्द-मन्द समीरण पंखा झल रहा है। चन्द्रमा उसके विशाल आँगन में—जो सीमाहीन है, जिसके ऊपर आकाश और नीचे पृथ्वी है—प्रकाश की स्निग्ध कोमल किरणें बिखेर रहा है और विरक्ति-वनिता संग में आनन्द की नव-नव लहरें उत्पन्न कर रही है। जिस अलमस्ती में चूर संत मस्त सो रहा है—बेचारे बादशाह इस सुख को क्या जानें ?

भीखा साहब ऐसे ही अलमस्त फकीरों में हैं। लगभग ढाई सौ साल हुए, आजमगढ़ जिले के खानपुर बोल्ना गाँव में भीखा का जन्म हुआ। इनका नाम भीखानन्द था और ये जाति के चौबे ब्राह्मण थे। बहुत बचपन से ही भीखा का चित्त जगत के विषयों से उचटा-उचटा रहता था। उन्हें संसार की सारी चीजें जन्म-मृत्यु के बंधन में बँधी हुई, जरा, व्याधि, दुःख और दोषों से भरी हुई प्रतीत होने लगीं। गाँव में जो कोई साधु-संत आ जाता, भीखा उसके पास लगे रहते थे और सेवा किया करते थे। बहुत थोड़ी उम्र होते हुए भी भगवान क्या हैं, कैसे मिलते हैं, संसार में इतना दुःख क्यों है, इससे छूटने का क्या उपाय है—इत्यादि पूछा करते थे। यह देखकर उनके घरवाले घबड़ाये। परन्तु, जिस-पर प्रभु अनुग्रह करता है, वह उसके सारे संकटों को दूर करके, सभी विघ्न-बाधाओं को मिटा करके उसे सदा के लिये 'अपना' कर लेता है, निजजन बना लेता है। भीखा के साथ भी यही बात हुई। माता-पिता तथा अन्य 'शुभचिन्तक' स्वजन इनके विवाह की बात सोचने लगे जिसमें लड़का राह पर आ जाय। परन्तु, भीखा के चित्त में तो कोई और ही समाया हुआ था, और, कुछ और ही

उनके हृदय को मथ रहा था। पूरे बारह वर्ष की भी अवस्था न होने पायी थी कि भीखा 'गुरु' की खोज में घर से निकल पड़े। विश्वनाथपुरी काशी के विषय में उन्होंने बहुत कुछ सुन रखा था। सुतरां, वे काशी पहुँचे। परन्तु उन्हें वहाँ मार्ग-दर्शक कोई मिला नहीं। निराश होकर वे लौट रहे थे कि रास्ते में गाजीपुर के गुलाल दास बाबा के विषय में उन्होंने सुना। वे दर्शनों को गये और प्रथम दर्शन में ही संत गुलाल से बहुत अधिक प्रभावित हुए। गुरु की महिमा गाते हुए भीखा साहब ने इस घटना का विवरण दिया है—

बीते बारह बरस, उपजी राम नाम सों प्रीति।
निपट लागी चटपटी, मानो चारिउ पन गयो बीति॥
नहिं खान-पान सोहात, तेहिं छिन बहुत तन दुर्बल हुआ।
घर ग्राम लाग्यो विषम बन, मानो सकल हारो है जुआ॥
ज्यों मृग जूथ से फूटि परु चकित चित है बहुत डर्‌यो।
ढूँढ़त व्याकुल वस्तु जनुके हाथ सों कछु गिरि पर्‌यो॥
सत्संग खोजो चित्त सों जहँ बसत अलख अलेख।
कृपा करि कब मिलहिंगे दहुँ कहाँ कौने भेष॥
कोय कहेउ साधू बहु बनारस भक्ति-बीज सदा रह्यो।
तहँ सास्त्र मत का ज्ञान है गुरुभेद काहू नहिं कह्यो॥
दिन दोय चार विचारि देख्यों भरम करम अपार है।
बहु सेव पूजा कीरतन मन माया रत व्योहार है॥
बाढ्यो बिरह अगाध छिन-छिन उठत मन अनुराग।
दहुँ कौन दिन अरु घरि पल कब खुलै मो मम भाग॥
बहु रेखता अरु कबित साखी सब्द सों मन मान।
सोइ लिखत सीखत पढ़त निसु-दिन करत हरि-गुनगान॥

इक ध्रुपद बहुत बिचित्र सुनत भोग पूछेउ हैं कहाँ।
नियरे भुरकुड़ा गाँव जाके सब्द आपे हैं तहाँ॥

चोप लागी बहुत जायके चरन पर सिर नाइया।
पूछेउ कहा कहि दियो आदर सहित मोहिं बैसाइया॥

गुरु-भाव बूझि मगन भयो मानो जन्म कौ फल पाइया।
लखि प्रीति दरद दयाल दर वै आपनो अपनाइया॥

आतमा निज रूप साँचो कहत हम करि कसम कै।
भीखा आपे आपु घट-घट बोलता सोहमस्मि कै॥

संक्षेप में भावार्थ यह है कि एक ध्रुपद सुनकर भीखा के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि इसका रचनेवाला कौन है; इसीलिये पूछा कि 'भोग' कहाँ है? 'भोग' का अर्थ है पद के अन्त में बनानेवाले का नाम। लोगों ने जब बतलाया कि भुरकुड़ा में एक संत हैं जिनका यह पद है, तो भीखा के मन में उनसे मिलने की चोप जागी और जब वे वहाँ पहुँचे तो गुरु ने बड़ी प्रीति से इनका सत्कार किया। प्रथम भेंट में ही भीखा गुरु-चरणों में समर्पित हो गये।

श्रीगुरु-चरणों के आश्रय में आकर भीखा को बड़ी शान्ति मिली। पन्द्रह-सोलह वर्ष तक—जब तक उनके श्रीगुरुदेव गुलाल साहब का शरीर पृथ्वी पर रहा, भीखा ने गुरु की बड़ी सेवा की और उनके सत्संग में वे बहुत नियमित रूप से निष्ठा और लगन के साथ उपस्थित रहते थे। गुलाल साहब की इनपर अपार कृपा थी। उन्होंने संत-मार्ग की साधना का सारा रहस्य इन्हें पूरे विस्तार के साथ खोल-खोलकर समझा दिया।

गुलाल साहब की महासमाधि के अनन्तर भीखा साहब गुरु-

परम्परा के अनुसार चौबीस-पच्चीस वर्ष तक सत्संग कराते रहे और लोगों को परमार्थ के पथ में प्रेरित करते रहे। जब से भीखा साहब भुरकुड़ा में आये तब से कभी वहाँ से बाहर गये ही नहीं। लगभग पचास वर्ष की अवस्था में विक्रमी संवत् १८२० में इन्होंने परम समाधि ली। भुरकुड़े में इनकी, इनके गुरु गुलाल साहब की तथा दादा गुरु श्री बुल्ला साहब की समाधियाँ अब तक हैं और विजया-दशमी पर वहाँ मेला लगता है। गाजीपुर और बलिया जिले में अब भी इनके पंथ के लोग हैं तथा इनका नाम बहुत आदर और श्रद्धा से लेते हैं। इनके ग्रंथों में 'राम जहाज' बहुत प्रसिद्ध है।

भीखा साहब के संबंध में बहुत-सी अलौकिक और चमत्कार-पूर्ण घटनाएँ सुनने को मिलती हैं। एक बार काशी के प्रसिद्ध औघड़ बाबा कीनाराम अघोरी इनके स्थान पर गये और पीने को मदिरा माँगी। पर यहाँ मदिरा कहाँ मिलती? कीनाराम ने ऐसा चमत्कार देखलाया कि भीखा साहब के स्थान-स्थान पर जहाँ-जहाँ पानी था, सब मदिरा हो गया। परन्तु, भीखा साहब ने अपने प्रभाव से शीघ्र ही पुनः सब मदिरा को पानी बना दिया। और भी ऐसी कई प्रचलित दन्तकथाएँ हैं जिनमें चमत्कारों का एक से एक चमत्कार है।

मृत्यु के मुख में दौड़ता हुआ मनुष्य गफलत में जीवन नष्ट कर रहा है, इसे देख संतों को मार्मिक दुःख होता है और प्रायः सभी संतों ने हमें सावधान किया है—उठो, जागो और अपने लक्ष्य को न भूलो—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत!' भीखा साहब ने कहा है—

या जग में रहना दिन चारी, तातें हरि चरनन चित धारी ॥
सिर पर काल सदा सर साधे, अवसर परे तुरत ही मारी।
भीखा केवल नाम भजे बिनु, आपति कष्ट नरक भारी ॥

सावधानी ही साधना है, संसार में सार वस्तु केवल हरि-स्मरण है और शेष सभी कुछ निःसार है—यही संतों ने बार-बार हमें चिताया है। संसार के खेल-तमाशे में हम इतने व्यस्त हैं कि हमें अपने 'स्वामी' का स्मरण ही नहीं होता—

हमरि रुचि जग खेल-खेलौना, बालक साज सँवारे।
पिता अनादि अनख नहिं मानहिं, राखत रहहिं दुलारे ॥

हमारी इस बेखबरी से हमारा 'पिता' हमपर रुष्ट नहीं होता—वह तिसपर भी हमें लाड़-प्यार से पालता ही है।

चौरासी लाख योनियों में भूलता-भटकता हुआ जीव मनुष्य का शरीर पाकर यदि नहीं सँभला, तो फिर इसका आना व्यर्थ गया; क्योंकि फिर वह उसी चौरासी के चक्कर में जा पड़ेगा। 'राम' के चरणों में प्रीति नहीं हुई, तो जीवन व्यर्थ ही गया। संसार के सारे संग्रह-परिग्रह, कुटुम्ब-कबीला, महल-अटारी आँखें मुँद जाने पर क्या काम आवेंगी? भीखा समझाते हैं—

राम सों करु प्रीति हे मन, राम सों करु प्रीति।
राम बिन कोउ काम न आवै, अंत ढहो जिमि भीत ॥
युक्ति-बिचारि देखु जिय अपनो, हरि बिनु नाहिं कोउ हीति।
गुरु गुलाल के चरण कमल रज, धरु भीखा! उर चीति ॥

भजन के आनन्द का किस उल्लास के साथ भीखा ने उल्लेख किया है—

निरमल हरि को नाम सजीवन
धन सो जन जिनके उर फरेऊ ।
जस निरधन धन पाइ सँचतु है
करि निग्रह किरपिन मति धरेऊ ।
जल बिनु मीन फनी मनि निरखत
एकौ घरी पलक नहिँ टरेऊ ।
भीखा गूँग औ गुड़ कौ लेखा
पर कछु कहे बने ना परेऊ ॥

इस दुःखालय अशाश्वत जगत में स्थायी सुख का कोई साधन है तो एकमात्र रामनाम है, शेष सब बखेड़ा है—

एक रामनाम सुखदाई दूजो है मलिनताई
जिव चाहहु भलाई तौ पै रामनाम जपना ॥
तात मात सुत बाम लोग बाग धन धाम
साँच नाहीं झूठे मानो रैनि कै सुपना ॥
माया परपंच येहि करम कुटिल जेहि
जनम - मरन फल पाप पुन्न तपना ॥
भोकता है आप ओई जेते औतार कोई
भीखा सुद्ध रूप सोई देखु निज अपना ॥

राम के चरण में अनुराग ही जीवन का परम पुरुषार्थ एवं सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है—

मन-क्रम-बचन बिचारि कै राम भजे सो धन्य ॥
राम भजे सो धन्य धन्य बपु मंगलकारी ।
राम-चरन-अनुराग परम पद को अधिकारी ॥
काम - क्रोध - मद - लोभ - मोह की लहरि न आवे ।
परमातम चैतन्य रूप महँ दृष्टि समावे ॥

व्यापक पूरन ब्रह्म है भीखा रहनि अनन्य ।
मन क्रम बचन बिचारि कै राम भजै सो धन्य ॥

साधन-पथ में एकमात्र प्रभु की अनुकम्पा का आश्रय करके ही साधक आगे बढ़ सकता है । अपनी साधना का संबल इस मार्ग में क्या सहायक होगा ? साधक का ध्यान सदा—चाहे वह कितनी भी भारी विपत्ति में क्यों न हो—प्रभु के चरण-कमलों में ही रहना चाहिये । एकान्त निष्ठा ही इस मार्ग की सारी बाधाओं को दूर करके हमें अग्रसर करती है । साधन-मार्ग का रहस्य है—सदैव अखण्ड रूप से श्रीहरि-चरणों का आश्रय लिये रहना । सच्ची प्रीति की यही रीति है—

प्रीति की यह रीति बखानौ ।
कितनौ दुख-सुख परै देह पर, चरन कमल कर ध्यानौ ।
हो चैतन्य बिचारि तजो भ्रम, खाँड धूरि जनि सानौ ॥
जैसे चातक स्वाति बुंद बिन, प्रान समर्पण ठानौ ।
भीखा जेहि तन राम-भजन नहिं, काल-रूप तेहि जानौ ॥

प्रभु के चरणों में अनन्य प्रीति, अव्यभिचारिणी भक्ति होते ही चित्त में प्रभु का तत्त्व उतरने लगता है और साधक उन चरणों को बड़े उल्लास के साथ अपने हृदय में बाँध लेता है। साधना की यह बहुत ही मधुर स्थिति है। इसमें चित्त स्वयं हरि-चरणों में लुभाया रहता है और एक पल के लिये भी विलग होना नहीं चाहता । काम-क्रोध आदि विकार प्रभु के आगमन की बात सुनकर स्वयं भाग खड़े होते हैं और अन्तर में उनका नामोनिशान भी नहीं मिलता । उस समय का 'मिलन' इतना आकुल, इतना विह्वल होता है कि साधक ही इस आनन्द को समझ सकता है—उसे व्यक्त करने की शक्ति शब्दों में नहीं है—

पिया मोर बैसल साँझ अटारी, टरै नहिं टारी ॥
काम-क्रोध-ममता परित्याग, नहिं उन सहल जगत के गारी।
सुखमन सेज सुँदर बर राजित, मिलिहैं गुलाल-भिखारी ॥

यहाँ 'गुलाल-भिखारी' का अर्थ है—गुलाल के चरणों का सेवक भीखा। भीखा साहब ने डंके की चोट कहा है कि बस एकमात्र नाम का ही आधार मुख्य है। 'नाम' के बिना यज्ञ, जप, तीर्थाटन, व्रत, पयाहार, फलाहार, जलशयन, बाँह को उठाकर 'ठढ़ेसरी' होना, मौन, गुहावास, प्राणायाम, षट्कर्म, होम, दान, स्नान, तप आदि सभी कुछ व्यर्थ के बखेड़े हैं।

पलटू साहब की साधन-प्रणाली

पलटू साहब का जन्म फैजाबाद जिले के नगपुर-जलालपुर में हुआ था। ये जाति के बनिया थे। इनके वंश के लोग आज भी उस गाँव में हैं। लोगों का अनुमान है कि आज प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहले पलटू साहब इस धराधाम पर आये थे।

पलटू साहब अपने पुरोहित गोविन्दजी महाराज के साथ अपने गाँव में ही रहते थे। पीछे जगन्नाथपुरी के रास्ते में गोविन्दजी ने भीखा साहब से दीक्षा ली और वापस आकर पलटू साहब को उपदेश दिया।

पलटू साहब बराबर गृहस्थाश्रम में ही रहे और गुरुपदीष्ट 'सुरत शब्द-योग' का अभ्यास कर आपने बहुत ही ऊँची स्थिति प्राप्त की। आपने बहुत समय तक अयोध्या में रहकर अपना सत्संग कराया। कहते हैं, इनकी महिमा और कीर्ति को देखकर

वहाँ के बैरागियों के मन में बड़ा द्वेष उत्पन्न हुआ और उन्होंने इन्हें जीते जी जला डाला। परन्तु, शरीर जलने से ही महात्मा जल नहीं जाते। उसके कुछ ही बाद पलटू उसी शरीर से जगन्नाथ-पुरी में प्रकट हुए और फिर तुरंत भगवत्स्वरूप में लीन हो गये। इनके जीवन के बहुत-से चमत्कार प्रसिद्ध हैं। कई मरे हुए व्यक्तियों को आपने प्राण-दान दिया। आपके अनुयायी आज भी प्राय: भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं। इनके जलाये जाने तथा जगन्नाथपुरी में पुन: आविर्भाव के संबंध में यह साखी प्रसिद्ध है—

अवधपुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में, पलटू सूते आइ॥

इनकी कुंडलियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं और उसके द्वारा संतमत के कई अंगों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। आप एक पहुँचे हुए फकीर थे और संतमार्ग का आपको बहुत ही सुन्दर अनुभव था—यह इन कुंडलियों से स्पष्ट मालूम होता है।

सत्संग और गुरु-वरण के संबंध में आपने दस कुंडलियाँ लिखी हैं जो सबकी सब बड़ी ही अनमोल हैं—उनमें से एक इस प्रकार है—

धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय॥
चादर लीजै धोय मैल है बहुत समानी।
चल सतगुरु के घाट भरा जहँ निर्मल पानी॥
चादर भई पुरानि दिनों दिन बार न कीजै।
सत्संगत में सौंद ज्ञान का साबुन दीजै॥
छूटै कलमल दाग नाम का कलप लगावै।
चलिये चादर ओढ़ि बहुरि नहिं भवजल आवै॥

पलटू ऐसा कीजिये मन नहिं मैला होय ।
धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय ॥

'नाम' के सम्बन्ध में इनके बड़े ही अनुभवपूर्ण वचन हैं—

नाम नाम सब कहत हैं नाम न पाया कोय ।
नाम न पाया कोय नाम की गति है न्यारी ।
वही सकस को मिलै जिन्होंने आसा मारी ॥
हौं को करै खमोस होस न तन को राखै ।
गगन-गुफा के बीच पियाला प्रेम का चाखै ॥
बिसरै भूख-पियास जाय मन रँग में लागी ।
पाँच-पचीस रहे यार संग में सोऊ भागी ॥
आपुइ रहै अकेल बोलै बहु मीठी बानी ।
सुनते भव बह बनै कहा मैं कहौं बखानी ॥
पलटू गुरु परताप तें रहै जगत में सोय ।
नाम नाम सब कहत हैं नाम न पाया कोय ॥

संत और नाम की परस्पर प्रीति का बड़े ही सुन्दर सरस शब्दों में पलटू ने उल्लेख किया है। वस्तुतः पलटू के शब्द इतने सरल एवं अनुभवपूर्ण हैं कि उनके रसास्वादनमात्र से जीव इस जगत के प्रपंच से अलग होकर परमात्म-सुख के सागर में गोता खाने लगता है। संत और नाम के परस्पर संबंध का कितना सुन्दर भाव-विन्यास इस पद में है—

संत सनेही नाम है नाम सनेही संत ॥
नाम सनेही संत नाम को वही मिलावैं ।
वे हैं वाकिफकार मिलन की राह बतावैं ॥
जप - तप - तीरथ - बरत करैं बहुतेरा कोई ।
बिना वसीला संत नाम से भेंट न होई ॥

कोटिन करै उपाय भटक सगरौ से आवै।
संत दुवारे जाय नाम को घर तब पावै॥
पलटू यह है ग्रान पर आदि सेती औ अंत।
संत सनेही नाम है नाम सनेही संत॥

जिस प्रकार घर में दीपक जलाने से कोना-कोना जगमगा उठता है; उसी प्रकार जब नाम का प्रकाश अन्तस्तल में उमड़ता है तब चारों दिशाएँ तेजोमय हो जाती हैं—

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
महल भया उजियार नाम का तेज बिराजा।
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥
दसो दिसा भई सुद्ध बुद्ध भई निर्मल साची।
छुटी कुमति की गाँठ सुमति परगट होय नाची॥
होत छतीसो राग दाग तिर्गुन का छूटा।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा॥
पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्हीं टार।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥

पलटू के चमत्कारों को देखकर लोग जब इनकी बहुत प्रशंसा करने लगे, तो उस प्रशंसा से ऊबकर इन्होंने नीचे लिखी कुंडलिया लिखी थी—

देत-लेत हैं आपु ही पलटू पलटू सोर॥
पलटू पलटू सोर राम की ऐसी इच्छा।
कौड़ी घर में नाहिं आपु मैं माँगौं भिच्छा॥
राई परबत करैं करैं परबत को राई।
अदना के सिर छत्र पैज को करैं बड़ाई॥
लीला अगम अपार सकल घट अंतरजामी।
खाँहि खिलावहिं राम देहिं हमको बदनामी॥

हम सों भया न होयगा साहिब करता मोर।
देत-लेत हैं आपुहीं पलटू पलटू सोर॥

जगत की ज्वाला में जलते हुए लोगों के लिये संत-महात्मा चंदन और चन्द्रमा के समान शीतल हैं तथा संतों की शरण में जाने से संसार का सारा पाप-ताप मिट जाता है, भरमना समाप्त हो जाता है। इस बात को संत-महिमा गाते हुए पलटू लिखते हैं—

सीतल चंदन चन्द्रमा तैसे सीतल संत॥
तैसे सीतल संत जगत की ताप बुझावैं।
जो कोइ आवै जरै मधुर मुख बचन सुनावैं॥
धीरज सील सुभाव छिमा ना जात बखानी।
कोमल अति यह बैन बज्र को करते पानी॥
रहन-चलन मुसकान ज्ञान को सुगँध लगावैं।
तीन ताप मिट जायँ संत के दर्शन पावैं॥
पलटू ज्वाला उदर की रहै न मिटै तुरंत।
सीतल चंदन चंद्रमा तैसे सीतल संत॥

संत का स्वभाव कैसा होता है, इसपर लिखते हैं—

संतन के सिरताज है सोई संत होइ जाय॥
सोई संत होइ जाय रहै जो ऐसी रहनी।
मुख से बोले साच करै कुछ उज्ज्वल करनी॥
एक भरोसा करै नहीं काहू से माँगै।
मन में करै संतोष तनिक ना कबहूँ लागै॥
भली बुरी कोउ कहै ताहि सुन नहिं मन माखै।
आठ पहर दिन-रात नाम की चर्चा राखै॥
पलटू रहै गरीब होय गम्मे को दै खाय।
संतन के सिरताज है सोई संत होइ जाय॥

तथा च

तीन लोक से है जुदा उन संतन की चाल ॥
उन संतन की चाल करम से रहते न्यारे ।
लोभ-मोह-हंकार ताहि की गरदन मारे ॥
काम-क्रोध कछु नाहिं लगै ना भूख पियासा ।
जियते मिरतक रहैं करैं ना जग की आसा ॥
रिद्धि सिद्धि को देख देत हैं लाक चलाई ।
माया से निर्वंत भजन की करैं बड़ाई ॥
सभै चबेना काल का पलटू उन्हें न काल ।
तीन काल से है जुदा उन संतन की चाल ॥

पाखंडी भेषधारी संतों को जो अपने भेष से जगत का व्यापार करते फिरते हैं, पलटू ने बहुत ही चुभते हुए शब्दों में स्मरण किया है; क्योंकि पाखंड से लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ता है—

पिसना पीसै राँड़ री पिउ पिउ करै पुकार ॥
पिउ पिउ करै पुकार जगत को प्रेम दिखावै ।
कहवै कथा-पुरान पिया को तनिक न भावै ॥
खिन रोवै खिन हँसै ज्ञान की बात बतावै ।
आप न रीझै भाँड़ और को बैठि रिझावै ॥
सुनै न वाकी बात तनिक जो अंतर जानी ।
चाहै भेटा पीव चलै ना सुपथ रहानी ॥
पलटू ऊपर से कहै भीतर भरा विकार ।
पिसना पीसै राँड़ री पिव पिव करै पुकार ॥

कथा-वार्ता के द्वारा जो लोग नाच-गाकर लोक-रंजन तो कर लेते हैं, परन्तु जिनका आचरण पवित्र नहीं है, केवल उपदेश देना ही जिनके जीवन का एक व्यसन बन गया है, उन्हें 'भाँड़' कह-

कर पलटू ने संबोधित किया है जो लोगों को हँसाने के लिये नाना प्रकार का स्वांग रचता है और तरह-तरह की बातें बनाता है।

काँच के महल के भीतर पवन-रूपी पंछी रहता है—उड़ जाने के दस दरवाजे खुले हुए हैं। पता नहीं यह कब उड़ जाय, इसलिये पलटू चिता रहे हैं—

क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसंत ॥
चाला जात बसंत कंत ना घर में आये।
धृग जीवन है तोर कंत बिन दिवस गँवाये ॥
गर्ब गुमानी नारि फिरै जोबन की माती।
खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती ॥
लगै न तेरो चित्त कंत को नाहिं मनावै।
का पर करै सिंगार फूल की सेज बिछावै ॥
पलटू ऋतु भरि खेलि लै फिर पछतैहै अंत।
क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसंत ॥

जगत के विषय-प्रपञ्च से निकलने का एकमात्र साधन है भक्ति। योग की क्रियाएँ, प्राणायाम, नेती धोती, आसन आदि सब प्रपंच ही हैं और इनसे वस्तुतः कुछ सधता भी नहीं—अन्त में पछतावा ही हाथ आता है। इसलिये बड़े ही स्पष्ट शब्दों में पलटू ने कहा है—

एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात ॥
और झूठ सब बात करै हठ जोग अनारी।
ब्रह्मदोष बो लेय काया को राखै जारी ॥
प्राण करै आयाम कोई फिर मुद्रा साधै।
धोती नेती करै कोई लै स्वासा बाँधै ॥
कनमुनि लावै ध्यान करै चौरासी आसन।

कोई साखी सबद कोई तप कुस के डासन ॥
पलटू सब परपंच है करैं सो फिर पछितात ।
एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात ॥

इस भक्ति के द्वारा ही प्रीतम के प्रेम का आस्वादन होता है। आरंभ में 'वह' अपना प्रेम-बुझा बाण छोड़ता है जो सीधे प्रेमी के हृदय को आर-पार कर जाता है। इस पीर को वही जानता है, जिसे यह बाण लगा है और जिसके प्राण घायल होकर तड़फड़ा रहे हैं—

प्रेम-बान जाके लगा सो जानेगा पीर ॥
सो जानेगा पीर काह मूरख से कहिये।
तिलभरि लगै न ज्ञान ताहि से चुप ह्वै रहिये ॥
जिनके हिया कठोर है पलटू धसै न तीर।
प्रेम-बान जाके लगा सो जानेगा पीर ॥

फिर जो दशा होती है, उसका वर्णन सुनिये—

मेरे तन-मन लग गई पिय की मीठी बोल ॥
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दिवानी।
भँवर गुफा के बीच उठत है सोहं बानी ॥
देखा पिय का रूप रूप में जाय समानी।
जग से रहना [illegible] मिलाप मिले पर ना अलगानी ॥
प्रीति पुरानी रही लिगा हमने पहिचानी।
मिली जोत में जोत सुहागिन सुरत सयानी ॥
पलटू सब्द के सुनत ही घूँघट डारा खोल।
मेरे तन-मन लग गई पिय की मीठी बोल ॥

जल से बिछुड़ी हुई मछली को सौ मन दूध में रखने पर भी क्या वह जी सकती है? इसी प्रकार प्रभु का विरही प्रभु के बिना प्राण कैसे धारण कर सकता है?

पलटू हरि से बीछुरे ये ना जीवैं तीन।
फनि से मनि जो बीछुरे जल से बिछुरे मीन॥

प्रेम-बान से घायल हृदय के घाव को तो कोई देखता नहीं। ऐसे दीवानों को दुनिया 'पागल' कहती है, कहती रहे—

अपने पिय की सुंदरी लोग कहैं बौरान॥
लोग कहैं बौरान काहि की पकरौं वानी।
घर-घर घोर मथान फिरौं मैं नाम दिवानी॥
पलटू हमरे देस की जानैं संत सुजान।
अपने पिय की सुंदरी लोग कहैं बौरान॥

स्नेह का आदर्श संबंध जल से मछली का ही है। इसे बार-बार पलटू ने समझाया है—

जहाँ तनिक जल बिछुड़ै छोड़ि देतु है प्रान॥
छोड़ि देतु है प्रान जहाँ जल से बिलगावै।
देइ दूध में डारि रहै ना प्रान गँवावै॥
जाको वही अहार ताहि को का लै दीजै।
रहै न कोटि उपाय और सुख नाना कीजै॥
यह लीजै दृष्टांत सकै सो लेइ बिचारी।
ऐसो करै सनेह ताहि की मैं बलिहारी॥

जब सारे खेल का केंद्र एकमात्र परमात्मा ही हो गया, तो हार और जीत दोनों ही सुहावने हो गये—

जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौ राम॥
जो जीतौं तौ राम राम से तन-मन लावौं।
खेलौं ऐसो खेल लोक की लाज बहावौं॥
पलटू बाजी लाइहौं दोऊ बिधि से राम।
जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तो राम॥

सत्संग को पलटू ने संत की दिवाली कहा है ; क्योंकि इसी के द्वारा अंतर की अमावस्या मिटती है—

> फिर-फिर नहीं दिवारी दियना लीजै बार ॥
> दियना लीजै बार महल में है उँजियारा ।
> उदय होय ससि-भान अमावस मिटै अँधियारा ॥
> पलटू सत्संगत मिला खेलि लेहु दिन चार ।
> फिर-फिर नहीं दिवारी दियना लीजै बार ॥

सबकी आँखों में, हृदय में, सिर पर एकमात्र प्रभु ही विराज रहा है ; फिर भी उसे कोई देख नहीं पाता । यह कितने आश्चर्य की बात है ! लोग उसे खोजने के लिये कहाँ-कहाँ भरमते फिरते हैं ।

> नजर मँहै सबकी परै कोऊ देखै नाहिं ॥
> कोऊ देखै नाहिं सीस पै सबके छाजै ।
> पूरन ब्रह्म अखण्ड सकल घट आपु बिराजै ॥
> पलटू खाली कहूँ नहिं परगट है जग माहिं ।
> नजर मँहै सबकी परै कोऊ देखै नाहिं ॥

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री सास-ससुर, ननद-देवर, भसुर सबकी सेवा करती है, सबको प्रसन्न रखती है ; परन्तु सोती है पिया के ही साथ, उसी प्रकार साधक जगत के सभी लोगों का आदर-सत्कार करे ; परन्तु उसके प्राणों की क्रीड़ा प्रभु के ही साथ हो, अन्यथा व्यभिचार-दोष का भागी होगा ।

> पतिबरता को लच्छन सबसे रहै अधीन ।
> सबसे रहै अधीन टहल वह सबकी करती ।
> सास-ससुर औ भसुर ननद देवर से डरती ॥
> सबका पोषन करै सभन की सेज बिछावै ।

सबको लेय सुताय, पास तब पियके जावै ॥
सूतै पिय के साथ सभन को राखै राजी ।
ऐसा भक्त जो होय ताहि की जीती बाजी ॥
पलटू बोलै मीठे बचन भजन में है लौलीन ।
पतिबरता को लच्छन सबसे रहै अधीन ॥

और फिर—

रैन दिवस बेहोस पिया के रँग में राती ।
तनकी सुधि है नहीं पिया सँग बोलत जाती ॥
पलटू गुरु परसाद ते किया पिया को हाथ ।
सोई सती सराहिये जरै पिया के साथ ॥

भक्त और संतों ने समान रूप से प्रभु की शरणागति को ही अपना एकमात्र आश्रय और आधार माना है और निर्भरा भक्ति में शरणागति ही एकमात्र प्राणों का अवलम्ब है । पलटू की एक कुंडलिया की कुछ पंक्तियाँ यों हैं—

करम-धरम सब छाड़िकै पड़े सरन में आय ॥
पड़े सरन में आय तजी बल-बुधि चतुराई ।
जप-तप नेम अचार नहीं जानौं कछु भाई ॥
पलटू मैं जियतै मुवा नाम भरोसा पाय ।
करम-धरम सब छाड़िकै पड़े सरन में आय ॥

प्रभु पर एकान्ततः निर्भर हो जाने पर साधक के चित्त में कितनी निश्चिन्तता एवं अलमस्ती छा जाती है यह पलटू के ही शब्दों में सुनिये—

पलटू सोवै मगन में साहिब चौकीदार ॥
साहिब चौकीदार मगन होइ सोवन लागे ।
दूनों पाँव पसारि देखि कै दुस्मन भागे ॥

जाके सिर पर राम ताहि को बार न बाँके।
गाफिल ह्वै मैं रहौं आपनी आपुइ ताके॥
हमको नाहीं सोच सोच सब उनको भारी।
छिन भरि परै न भोर लेत हैं खबर हमारी॥
लाज तजा जिन राम पर डारि दिया सिर भार।
पलटू सोवै मगन में साहिब चौकीदार॥

सच्ची दीनता ही संतों का आभूषण है—

मन मिहीन करि लीजिये जब पिउ लागै हाथ॥
जब पिउ लागै हाथ नीच ह्वै सबसे रहना।
पच्छा-पच्छी त्यागि ऊँच बानी नहिं कहना॥
मान बड़ाई खोय खाक में जीते मिलना।
गारी कोउ देइ जाय छिमा करि चुपके रहना॥
सब की करै तारीफ आपको छोटा जानै।
पहिले हाथ उठाय सीस पर सबको आनै॥
पलटू सोई सुहागिनी हीरा झलकै माथ।
मन मिहीन करि लीजिये जब पिउ लागै हाथ॥

दरिया साहब

मन परतीत न प्रेमरस ना कछु तन में ढंग।
ना जानूँ उस पीव से क्यों कर रहसी रंग॥

—कबीर

दरिया साहब नाम के दो निर्गुणिये संत लगभग एक ही समय में हुए—एक मारवाड़ में और दूसरे बिहार में। यहाँ मारवाड़वाले दरिया साहब की साधन-शैली पर कुछ निवेदन किया जा रहा है। विक्रम संवत् १७३३ के भादो बदी अष्टमी को मारवाड़ के जैतरन गाँव में मुसलमान कुल में दरिया साहब प्रकट हुए। माता-पिता जाति के धुनियाँ थे। दरिया साहब ने स्वयं अपने एक पद में कहा है—

जो धुनियाँ तौ भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मतिहीना,
तुम तो हौ सिरताज हमारा।

सात वर्ष की उम्र में ही दरिया साहब ने अपने पिता को खो दिया। फिर वे अपनी माता के साथ अपने नाना के घर

जाकर रहे। नाना का नाम था कमीच और वे रैन नामक गाँव में रहते थे। रैन में दरिया साहब के गुरुमुख शिष्य सुखराम दासजी बहुत प्रख्यात संत हो गये हैं। ये जाति के लोहार थे। इनका स्थान रैन में अब तक भी है, जहाँ हर वर्ष मेला लगता है। दरिया साहब के संत-मार्ग के गुरु थे बीकानेर के प्रेमजी। कहते हैं, सौ वर्ष पूर्व मरते समय दादू ने दरिया साहब के प्रकट होने की बात कही थी—

देह पड़ता दादू कहै, सौ बरसाँ इक संत।
रैन नगर में परगटै, तारै जीव अनंत॥

राजपूताना में दरिया साहब के मत के हजारों आदमी हैं और अब भी उनमें साधन-सत्संग की परिपाटी है। आचार-विचार की शुद्धता तथा निर्गुण-चिन्तन और गुरु-कृपा का आश्रय इनकी मुख्य साधना है। ८२ वर्ष की अवस्था में अगहन सुदी पूनो संवत् १८१५ में दरिया साहब परलोक सिधारे। कहते हैं, महाराज बख्तसिंहजी को एक असाध्य रोग हो गया था और इसके कारण वे चारों ओर से निराश हो गये थे। अंत में वे दरिया साहब की कुटी पर आये और बहुत-बहुत प्रार्थना की। करुणावश दरिया साहब ने अपने चेले सुखराम दासजी द्वारा उनको उपदेश किया और वे अच्छे हो गये। उन्होंने दरिया साहब को बहुत-सी जागीर देनी चाही; परन्तु संत दरिया को जगह-जमीन से क्या मतलब था? उन्होंने साफ 'नाहीं' कर दी और माया को अपने पास फटकने तक नहीं दिया।

संतों की परम्परा में साधना का श्रीगणेश गुरुवरण और गुरु-कृपा के आश्रय से होता है। पूर्ण शरणागति और निःशेष समर्पण गुरु के चरणों में करना पड़ता है और उसी क्षण गुरु शिष्य को अंतःपुर में ले जाकर प्रभु से 'परिचय' करा देता है। यह

परिचय जीवन का सबसे महान् मधूत्सव है और इसकी प्रक्रिया लगभग उसी प्रकार की है जैसी पुरोहित द्वारा कौंरी कन्या का उसके भावी पति से परिचय की। अबोध कन्या यह नहीं जानती कि मेरा कहाँ और किससे संबंध होनेवाला है ; परंतु उसके माता-पिता और पुरोहित उसके लिये सुयोग्य वर ढूँढ़कर उसके साथ उसका विधिवत् पाणिग्रहण और ग्रन्थिबन्धन करा देते हैं। तब से वही पुरुष, जो उसके लिये पहले सर्वथा अपरिचित एवं अज्ञात था, सदा के लिये उसका प्राणनाथ, जीवनधन और हृदय-सर्वस्व हो जाता है। और, यह सब इतना स्वाभाविक होता है कि पति-पत्नी के सिवा इसे कोई समझ भी नहीं सकता। जीवमात्र प्रभु की प्रकृति है और वह अपने 'पुरुष' को खोज रहा है। जीव-जीव के हृदय में जो व्याकुलता है, प्रेम की जो व्यथा है, मिलन की जो लालसा है, वह है उसी परम प्रियतम को पाने और अपनाने के लिये ही। 'उसके' ही होकर हम उससे बिछुड़ गये हैं और उसी को भर आँख देखने के लिये, उसके ही आलिंगन-पाश में बँधने के लिये हमारे प्राणों में हाहाकार है। सेंट जॉन ऑफ दी क्रॉस ने इस भाव को बहुत ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

"I will draw near to Thee in silence and will uncover Thy feet that it may please Thee to unite me to Thyself, making my soul Thy bride. I will rejoice in nothing till I am in Thine arms."

"मैं चुपके से तुम्हारे चरणों के समीप आकर उन्हें देखूँगा, निरखूँगा ताकि तुम मुझे अपने में मिला लो, मेरी आत्मा को अपनी वधू बना लो। तुम्हें पाये बिना, तुम्हारे आलिंगन में बँधे बिना मुझे शान्ति नहीं, सुख नहीं।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि संत-परम्परा में कबीर, दादू,

रैदास, मीरा, पलटू और दरिया साहब आदि संतों में ऐसे भावों की एक अजस्र धारा-सी बह रही है और इस मिलन-संयोग को सुलभ करने तथा पुरोहित या मध्यस्थ का काम कर 'उन' से मिला देनेवाले गुरु की वन्दना करते-करते ये थके नहीं।

दरिया साहब कहते हैं—

दरिया सतगुरु भेंटिया जा दिन जन्म सनाथ।
सूवनौं सब्द सुनाय के मस्तक दीना हाथ॥
अंतर थो बहु जनम को सतगुरु भाँग्यो आय।
दरिया पति सों रूठनो अब कर प्रीति बनाय॥

जिस दिन सतगुरु के शुभ दर्शन हुए, उसी दिन मैं सनाथ हो गया—उन्होंने कानों में 'शब्द' सुनाकर मेरे मस्तक पर हाथ रखा—सदा के लिये अपना लिया। जाने कितने जन्म अभी भटकना पड़ता; परन्तु उन्होंने अपनी कृपा से मुझे इस भवचक्कर से छुड़ा लिया और रूठे हुए पति को मना लिया।

कानों में जो उनका 'शब्द' आया और मस्तक पर जो उन्होंने हाथ रखा, उसका तात्कालिक और अत्यन्त प्रत्यक्ष फल दरिया साहब बतलाते हैं—

दरिया सतगुरु कृपा करि, सब्द लगाया एक।
लागत ही चेतन भया, नेतर खुला अनेक॥
शब्द गहा, सुख ऊपजा, गया अँदेसा मोहि।
सतगुरु ने किरपा करी, खिड़की दिन्हीं खोलि॥

इस एक ही शब्द-बान के लगते ही मैं जो जड़ के समान हो रहा था सो 'चैतन्य' हो गया, मेरे रोम-रोम की आँखें खुल गयीं, मेरे मन का सारा अँदेशा मिट गया। सतगुरु ने अपार अनुकम्पा करके मेरे हृदय की खिड़की खोल दी और 'भीतर' की झलक दिखला दी।

यह 'शब्द' क्या है, यह जानने की हमारे मन में सहज ही उत्सुकता हो रही है—

तीन लोक को बीज है, ररो ममो दोइ अंक।
दरिया तन-मन अर्प के, पीछे होय निसंक॥

वह बस, दो अक्षर 'रा म' का शब्द है जिसका बान चलाकर गुरुदेव ने हृदय की ग्रन्थियाँ काट दीं, भीतर के अंधकार को सदा के लिये भगा दिया। यह 'राम' ही तीनों लोक का बीज है, इसकी प्राप्ति के लिये तन और मन को गुरु के चरणों में अर्पित करना पड़ता है और इसकी प्राप्ति के बाद हम सदा के लिये निःशंक हो जाते हैं।

श्री गुरुदेव की असीम कृपा से हृदय में 'नाम रतनधन' का जो सुविमल प्रकाश हो रहा है, उसकी शोभा और आनन्द का वर्णन शब्दों में कोई करे तो कैसे? वह तो कहने-सुनने की वस्तु है ही नहीं। उसे तो भीतर-ही-भीतर चुपचाप 'सुमिरन' करते रहना चाहिये। मिश्री जैसे-जैसे भीतर घुलती जाती है, तैसे-तैसे उसका रस अधिकाधिक मिलता जाता है। उस 'स्वाद' को शब्दों में कैसे बतलावें?

दरिया नाम है निरमला, पूरन ब्रह्म अगाध।
कहे-सुने ना सुख लहे, सुमिरे पावे स्वाद॥

कर्मकाण्ड की सारी क्रियाएँ, संपूर्ण शास्त्रों का सारा ज्ञान व्यर्थ है, यदि हृदय में रामनाम का प्रकाश नहीं मिला। रामनाम के सामने ये वैसे ही हैं, जैसे सूरज के सामने दीपक—

राम बिना फीका लगै सब किरिया सासतर ज्ञान।
दरिया दीपक कहा करै उदय भया निज भान॥

'निज भान' का अर्थ यह है कि स्वयं जब सूर्य ही उदय हो गया, तो इन टिमटिमाते दीपकों से क्या प्रयोजन ? नाम का सूर्य जब हृदय-गगन में उदय हो जाता है, उस समय चारों ओर 'उजास' हो जाता है—

> नाम प्रकासै देह में तौ सकल भरम का नास।
> दरिया सूरज ऊगिया चहुँ दिसि भया उजास॥

सब ग्रन्थ, सब शास्त्र को छानकर अन्त में इसी 'रामनाम' में लौटना पड़ता है। सच्ची साधुता का लक्षण यही है कि व्यर्थ के चक्कर में न पड़कर रसना से रामनाम रटे और भीतर मन में रामनाम को सुमिरे—

> सकल ग्रंथ का अर्थ है, सकल बात की बात।
> दरिया सुमिरन राम का, कर लीजै दिन रात॥
> राम नाम रसना रटै, भीतर सुमिरै मन।
> दरिया ये गत साध की पाया नाम रतन॥

'नाम' का सबसे पहला चमत्कार यही है कि वह जन्म-जन्म के अन्धकार को दूर कर देता है; और हृदय में 'नाम' के दिव्य प्रकाश के आते ही अपना सच्चा स्वरूप सामने आ जाता है। उस समय वह यह समझता है कि प्रभु से बिछुड़ा हुआ यह जीव प्रभु को पाये बिना कदापि शान्ति नहीं पा सकता। वह तब समझता है कि वह अपने 'प्यारे' से बिछुड़ गया है। 'नाम' का सबसे सुन्दर चमत्कार—अन्तःकरण में विरह-जागरण का ही है। जब यह 'विरह' जग जाता है तब मिलन होते क्या देर लगती है ? विरह की तीव्र अनुभूति के साथ ही आन्तरिक प्रेममयी साधना की यमुना में तरंगें उठने लगती हैं।

मेरी साधें मेरे भीतर सो रही थीं, हरि ने कृपा कर विरह की वंशी फूँककर इन्हें जगा दिया। हमारे अन्तर के कण-कण में एक

विचित्र हलचल होने लगी। 'उन' से परिचय तो अभी है नहीं, परन्तु भीतर में उनसे मिलने की जो ललक है, वह एक क्षण भी शान्त नहीं रहने देती। जगत के सुख और सुविधाओं में मनुष्य यह भूल बैठता है कि वह यहाँ पर परदेशी है, उसे यहाँ से प्रीतम के घर लौटना है, और अन्त में प्रीतम में ही मिल जाना है। प्रीतम से बिछुड़कर ही हम यहाँ आये हैं और हमारी जीवन-धारा का मुख्य लक्ष्य उसी की प्राप्ति होनी चाहिये। यह 'स्मरण',—इस बात की स्मृति कि हमें प्रियतम से मिलना है, नाम के द्वारा ही हमें प्राप्त होती है—

दरिया हर किरपा करी बिरहा दियो जगाय।
यह बिरहा मेरे साध को सोता लिया जगाय॥

और फिर—

पिव सेती परचो नहीं, बिरह सतावे माँहि।

जीवमात्र के हृदय में से 'विरहिणी नारी' की कातर पुकार निकल रही है। हृदय सर्वथा अनावृत हो जाने पर प्रभु के बिछोह में तड़पती हुई विरहिणी के रूप में ही प्रगट होता है। खोज यहीं से चलती है—

बिरहिन पिउ के कारने ढूँढ़न बनखँड जाय।
निस बीती पिउ ना मिला, दरद रहा लपटाय॥

तुलसी साहब ने विरह की इस व्यथा को बड़े ही दर्दीले ढंग से व्यक्त किया है—

व्याकुल बिरह दीवानी झरै नित नैनन पानी।
हरदम पीर दिल की खटकै, सुधि-बुधि बदन हिरानी॥
हिय में दाग जिगर के अंदर क्या कहि दरद बखानी।
तुलसी यह रोग रोगिया बूझै जिसको पीर पिरानी॥

मानवमात्र के भीतर, वह पुरुष हो या नारी, जब भगवान् को प्राप्त करने के लिये हाहाकार उठता है तब उसके भीतर की 'नारी' जागृत हो उठती है; क्योंकि नारी ही 'परमपुरुष' के प्रेम की अधिकारिणी है। न्यूमैन के शब्द हैं—

"If the soul is to go on to higher spiritual blessedness, it must become woman—Yes, however manly you may be among men"—

जो भी व्यक्ति हो, अत्यन्त प्रौढ़ पुरुष ही वह क्यों न हो, जब वह भगवान् की प्रीति प्राप्त करना चाहता है, तो उसे 'नारी' ही बनना पड़ता है, बनना ही पड़ता है।

प्रेमी या साधक की प्रीति-साधना का प्रारम्भिक विकास यहीं से आरंभ होता है और इसे 'पूर्वराग' कहते हैं। प्रेमी यहाँ प्रेम के हलाहल-भरे अमृत और अमृत-भरे हलाहल की बस, एक घूँट पी पाता है। और, पीते ही सुध-बुध खोकर दूरागत वंशी के स्वर को सुनकर वंशीवाले को पकड़ने के लिये दौड़ता है। आज साधक के जीवन में एक नवीन ज्योति, एक नवीन रस और एक नवीन नाद की धुन खुल पड़ी है और उसके हृदय में प्रेम का समुद्र लहरें ले रहा है –

> मुरली कौन बजावै हो गगन मँडल के बीच॥
> त्रिकुटी संगम होय कर, गंग-जमुन के घाट।
> या मुरली के सब्द से सहज रचा बैराट॥
> गंग-जमुन बिच मुरली बाजै, उत्तर दिसि धुन होय।
> उन मुरली की टेर ही सुनि-सुनि रहीं गोपिका मोहि॥
> कान्ह गोपी नृत्य करते चरन बपुहि बिना।
> नैन बिना दरियाव देखै आनँद रूप घना॥

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गंगा-यमुना से यहाँ इड़ा-पिंगला का अर्थ है और नादानुसंधान में योगी लोग मृदंग और मुरली की ध्वनि सुना करते हैं और हृदय के भीतर ही उन्हें अखण्ड सनातन रास का दर्शन होता है। आगे चलकर इस रास में उनका सदा के लिये लय हो जाता है।

मान, लज्जा, कुल, शील, भय आदि का त्याग करके ही इस मार्ग में आगे बढ़ा जाता है। इन आवरणों के हटते ही प्यारे का रूप सामने आ जाता है। भगवान् हमारा अत्यन्त भीना आवरण भी नहीं सह सकते। कभी-कभी क्या, प्रायः सदा ही उन्हें वस्त्र-हरण की लीला रचनी पड़ती है, जिसमें हमारी आत्मा नग्नरूप में उनके सामने सर्वतोभाव से आ सके। इसी भाव को ईसाई संत एकहार्ट (Meister Eckhart) ने बहुत ही प्रभावशाली एवं हृदय की भाषा में लिखा है—

"If the soul were stripped of all her sheaths, God would be discovered all naked to her view and would give himself to her, withholding nothing. As long as the soul has not thrown off all her veils, however thin, she is unable to see God."

आत्मा जब अपने सारे आवरण को हटा देती है, तो भगवान् का सुमधुर साक्षात्कार उसे होने लगता है और भगवान् अपने आपको उसके हाथों में पूर्णतः सौंप देने के लिये आतुर हो जाते हैं—कुछ भी अपने लिये रखना नहीं चाहते। हाँ, शर्त यह है कि अत्यन्त भीना-सा आवरण भी न रहे।

आत्मा के इस अभिसार और मिलन के सुख को संतों और वैष्णवों ने समान रूप से लिया है और जो कुछ भी शब्द उनके

मुख से निकले हैं, उनसे उस रस का अनुमान भर किया जा सकता है; क्योंकि यह रस स्वसंवेद्य है, शब्दों में इसका आकलन नहीं हो सकता—

> अनंतहि चंदा ऊगिया, सूरज कोटि परकास।
> बिन बादल बरषा घानी, छह रितु बारह मास॥
> बिन पावक पावक जलै, बिन सूरज परकास।
> चाँद बिना जहँ चाँदना, जन दरिया का बास॥
> रतन अमोलक परखकर, रहा जौहरी थाक।
> दरिया तहँ कीमत नहीं, उन्मुन भया अवाक॥
> ररकार धुन होद में, गरक भया कोइ दास।
> जन दरिया व्यापै नहीं, नींद भूख अरु प्यास॥
> सुरत निरत परचा भया, अरस-परस मिलि एक।
> जन दरिया बालक बना, मिट गया जनम अनेक॥

इस 'अभिसार' का कितना सुन्दर वर्णन सेंट जॉन ऑफ दि क्रॉस (St. John of the Cross) ने किया है।

इस शुक्लाभिसार में हृदय की धड़कन और मिलन के लिये प्राणों की जो तीव्र उत्कण्ठा होती है, वह इस कविता में ओत-प्रोत है। अभिसार के अन्त में मिलन का जो सुख होता है, उसे भी सेंट जॉन के शब्दों में ही सुनिये—

> Upon my flowery breast
> Wholly for him and save himself for none,
> There did I give sweet rest
> To my Beloved one.
> The fanning of the cedars breathed thereon.
> All things I then forgot.

My cheek on him who for my wooing came-
All ceased and I was not,
Leaving my cares and shame
Among the lilies and forgetting them.

उसी 'एक' से ही सब मिलते हैं और उसी एक में मिल जाते हैं। उसी को दरिया अपना 'सिरताज' कहते हैं और यह कहते हैं कि वही सब संतों का 'बालम' कबीर का 'कंत' और दादू का 'महाराज' है—

सोई कंत कबीर का, दादू का महाराज।
सब संतन का बालमा, दरिया का सिरताज॥

अपने 'सिरताज' राम में ही अपना सब कुछ अर्पण करते हुए दरिया बड़ी दृढ़ता के साथ कहते हैं—

आदि अंत मेरा है राम,
उन बिन और सकल बेकाम।
कहाँ करूँ तेरा बेद पुराना,
जिन है सकल जगत भरमाना॥
कहाँ करूँ तेरा सांख और जोग,
राम बिना सब बंधन रोग।
कहाँ करूँ इंद्रिन का सुक्ख,
राम बिना देवा सब दुक्ख॥
दरिया कहै राम गुरमुखिया,
हरि बिन दुखी राम संग सुखिया॥

परिचय, ग्रंथि-बंधन और पाणिग्रहण के पश्चात् साधक अपने परम प्रियतम से ऐसा जुड़ जाता है कि स्वामी की एक क्षण की विस्मृति भी उसे असह्य हो जाती है। अपनी दुर्बलता,

मलिनता, अज्ञता आदि का उसे बोध रहता है; परन्तु 'उस' की सहज दया और प्रेम का बल उसे प्राप्त हो जाता है, और उसे यह दृढ़ विश्वास रहता है कि जिसे 'वह' अपना लेता है उसे सर्वथा, सर्वभावेन, सदा के लिये अपनाता है। यह नाता ऐसा नहीं कि आज जुटा और कल छूटा। दरिया साहब इसी विश्वास में मस्त होकर गा रहे हैं—

बाबल कैसे बिसरा जाई।
जदि मैं पति संग रल खेलूँगी, आपा धरम समाई॥
सतगुरु मेरे किरपा कीनों, उत्तम बर परनाई।
अब मेरे साईं को सरम पड़ैगी, लेगा चरन लगाई॥
थें जानराय मैं बाली भोली, थें निरमल मैं मैली।
बेबतलाएँ मैं बोल न जानूँ, भेद न सकूँ सहेली॥
थें ब्रह्मभाव मैं आतम कन्या, समझ न जानूँ बानी।
दरिया कहै पति पूरा पाया, यह निश्चय करि जानी॥

Old Testament में ठीक इसी भाव की एक बहुत सुन्दर कविता है—

Let him kiss me with the kisses of his mouth.
For Thy love is better than wine
Behold thou art fair, my Beloved, yea! pleasant,
Also our bed is green......
His left hand is under my head
And his right hand doth embrace me.

यहाँ तक तो हुई निर्गुण साधना-संबंधी चर्चा। अब संक्षेप में दरिया साहब के व्यवहार-पक्ष की कुछ विशिष्ट बातों का उल्लेख अनावश्यक न होगा। दरिया साहब ने 'सुमिरन का अंग' में यह स्पष्ट लिखा है कि वह गृहस्थ, जो अपने परिवार के साथ घर में

ही रहता है; परन्तु जिसका हृदय राम से भरपूर है, वह पूजनीय है—वही सच्चा साधु है—

> जो कोई साधू गृही माँहि राम भरपूर।
> दरिया कह उस दास की मैं चरनन की धूर॥

'माँहि राम भरपूर' का अर्थ यह है कि जिसका हृदय राम से भरपूर है, राम से ओतप्रोत है।

दरिया साहब की वाणियों में नादानुसंधान तथा षट्चक्र-भेदन की प्रक्रिया आदि का वर्णन अवश्य आया है; परन्तु वह साफ कहते हैं कि कोई इस चक्कर में न पड़े, जन-साधारण के लिये यह मार्ग संकटापन्न है। इसीलिये वह बहुत जोर से डंके की चोट कहते हैं—

> दरिया दूजे धरम से संसय मिटै न सूल।
> राम नाम रटता रहै, सर्व धर्म का मूल॥
>
> लख चौरासी भुगत कर, मानुष देह पाई।
> राम-नाम ध्याया नहीं, तो फिर चौरासी आई॥
>
> मरना है, रहना नहीं, जामें फेर न सार।
> जन दरिया भय मानकर आपन राम सँभार॥
>
> राम-नाम निस दिन रटै, दूजा नाहीं दायँ।
> दरिया ऐसे साध की, मैं बलिहारी जायँ॥

गीता में 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' वाला जो श्लोक है, उसको कितनी सरल भाषा में दरिया ने एक दोहे में कहा है—

> माया मुख जागै सबै, सो सूता कर जान।
> दरिया जागै ब्रह्म दिस, सो जागा परमान॥

जागना तो वह है जो भगवान् में जागे। यदि माया में ही जगे रहे, तो कहाँ जागे ? इसीलिये सच्चे जागने का अर्थ दरिया साहब यह बतलाते हैं—

दरिया सोता सकल जग, जागत नाहीं कोय।
जागे में फिर जागना, जागा कहिये सोय॥

हमारा यह जीवन एक जाग्रत् स्वप्न (waking dream) है, जागते हुए भी हम सो रहे हैं। असली जागना तो इस जागने में फिर प्रभु-परिचय से ही होता है—

बिना 'पात्र' मिले अध्यात्म की रहस्यभरी बातों को जहाँ-तहाँ खोलने से लाभ की अपेक्षा हानि ही होती है। जहाँ जानने की उत्सुकता हो, वहीं बतावे, नहीं तो चुप रहे। व्यर्थ श्रम न करे—

जन दरिया उपदेश दे, जाके भीतर चाय।
नातर गैला जगत से, बक-बक मेट बलाय॥
जन दरिया उपदेश दे, जाके भीतर प्रेम सधीर।
गाहक होइ कोइ हींग का, ताको कहा दिखावै हीर॥

जहाँ सच्ची जिज्ञासा है, वहाँ कुछ भी छिपाने की आवश्यकता नहीं—

साध सरोवर राम जल राग-द्वेष कुछ नाहिं।
दरिया पीवै प्रीत कर सो तिरपित हो जाहिं॥

दरिया साहब सच्चे साधु और बहुत उच्च कोटि के फकीर थे। उन्होंने सच्ची साधुता के सामने सिर झुकाया है और व्यर्थ के स्वाँग और आडम्बरों को बुरी तरह फटकारा है। भजन ही साधुता का प्राण है, इसे कई स्थानों पर उन्होंने बड़ी ही प्रभावशाली वाणी में कहा है—

दरिया संगी साध का, अंतर प्रेम प्रकास।
राम भजै साँचे मने, दूजे धुंध निकास॥
दरिया साध और स्वाँग का, कोड़ कोस का बीच।
राम रता साँचा मता, स्वाँग काल की कीच॥

अखण्ड नाम-स्मरण और स्वरूप-चिन्तन को ही दरिया साहब ने साधना की आत्मा माना है। यह स्मरण ही भगवान् में भक्त का विहार है—ठीक उसी प्रकार जैसे जल में मछली का और आकाश में पंछी का—

मैं तोहि कैसे बिसरूँ देवा।
ब्रह्मा बिस्नु महेसुर ईसा ते भी बंछै सेवा॥
सेस सहस मुख निस-दिन ध्यावै आतम ब्रह्म न पावै।
चाँद सूर तेरी आरति गावैं हिरदय भक्ति न आवै॥
जन दरिया यह अकथ कथा है अकथ कहा क्या जाई।
पंछी का खोज मीन का मारग घट-घट रहा समाई॥

इसलिये—

दिल के आईने में है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई, देख ली।

दरिया साहब (बिहारवाले)

दरिया नाम के दो संत प्रायः समकालीन ही हुए—एक बिहार में दूसरे मारवाड़ में। बिहार के शाहाबाद जिले में धर-कंधा गाँव में एक मुसलमान परिवार में दरिया साहब का जन्म हुआ था। इनका जीवन-काल १७३१ से १८३७ माना जाता है जिसके अनुसार इनकी आयु १०६ वर्ष की ठहरती है। इनके सरल सात्विक शुद्ध जीवन को देखते हुए यह आयु बहुत लंबी नहीं कही जा सकती। दरियापंथियों की मान्यता यह है कि दरिया साहब क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए थे। जिस प्रकार दादू को दादू-पंथी नागर ब्राह्मण सिद्ध करना चाहते हैं, उसी प्रकार दरिया को दरियापंथी क्षत्रिय सिद्ध करना चाहते हैं; परन्तु उनका यह आग्रह स्वयं उनके ही मत के अनुसार सर्वथा अवाञ्छनीय है। कहते हैं, दरिया साहब को स्वयं परमपुरुष ने एक साधु के भेष में आकर दीक्षा दी थी और इस दीक्षा के बाद ही दरिया की

स्थिति पलट गयी और इनके जीवन की धारा परमात्मा की ओर मुड़ पड़ी।

दरियापंथी दरिया साहब को कबीर का अवतार मानते हैं। इनके पंथ में एक विचित्र प्रथा यह है कि ये लोग खड़े हुए झुक-कर मालिक की बंदगी करते हैं जिसे ये 'कोरनिश' कहते हैं और फिर माथा टेककर 'सिरदा' (सिजदः) करते हैं। हरएक साधू एक मिट्टी का हुक्का और पानी पीने का भरुका अपने पास रखता है चाहे उसे उसकी जरूरत हो या न हो। बिहार में इस पंथ के बहुत संत हैं और कई स्थानों पर इनकी गद्दियाँ भी हैं।

सतगुरु का आश्रय लेकर भवसागर तर जाने का संकेत दरिया अपने अन्तर में कुरल करनेवाले 'हंस' से कर रहे हैं—

दरिया भव जाल अगम है सतगरु करहु जहाज।
तेहि पर हंस चढ़ाइ कै, जाय करहु सुखराज॥

सतगुरु के श्रीमुख से प्राप्त सत्तनाम ही साधक के प्राण का आधार है—

सत्तनाम निजु सार है, अमर लोक के जाय।
कह दरिया सतगुरु मिलै, संसय सकल मिटाय॥
जाके पूँजी नाम है, कबहिं न होवै हानि।
नाम बिहूना मानवा, जग के हाथ बिकानि॥
हंस नाम-अमृत नहिं चाख्यो, नहिं पाये पैसार।
कह दरिया जग अरुझ्यो, इक नाम बिना संसार॥

माला, छापा, तिलक आदि का साधना में कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व की एकमात्र वस्तु है 'नामस्मरण'। यह नामस्मरण हृदय की पूरी प्रीति और लगन के साथ होना चाहिये—

सुमिरन सत्तनाम गति, प्रेम-प्रीति चित लाइ।
बिना नाम नहिं बाचिहो, मिथ्या जनम गँवाय॥

जिस प्रकार घट-घट में प्रभु विराज रहे हैं, उसी प्रकार घट-घट में 'नाम' की स्फूर्ति भी स्वतः हो रही है। 'रा' और 'म' की दिव्य क्रीड़ा हृदय-कमल में अखण्ड रूप से स्वतः हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि साधक अपने हृदय के अन्दर पैठकर नाम की इस क्रीड़ा का अवलोकन करे, उस सर्वव्यापी नाम में डूबे—

जैसे तिल में फूल जो, बास जो रहा समाय।
ऐसे सबद सजीवनी, सब घट सुरति दिखाय॥

जिस प्रकार तिल में तेल और पुष्प में सुगन्धि है, उसी प्रकार 'सजीवन शब्द' राम सब घट में व्याप रहा है, केलि कर रहा है।

सभी निर्गुणिये संतों की तरह दरिया साहब ने भी 'चितावनी के अंग' में कंचन और कामिनी के फंदे से बचकर भजन में लगने का आदेश किया है—

कनक कामिनि के फंद में, लालची मन लपटाय।
कलपि-कलपि जिव जाइहै, मिथ्या जनम गँवाय॥
मातु-पिता-सुत बाँधवा, सब मिलि करैं पुकार।
अकले हंस चलि जातु है, कोइ नहिं संग तुहार॥

ऐसी अवस्था में दृढ़ विश्वास के साथ भजन में लगना चाहिये और एकमात्र 'नाम' में ही प्रीति और प्रतीति रखकर प्रभु के स्मरण के आनन्द में डूबना चाहिये। वह प्रभु बहुत ही पास है, अपने ही भीतर है, न जानने के कारण हम उसी प्रकार भरमते और भटकते फिरते हैं—जैसे मृग अपनी नाभि में की कस्तुरी को न जानकर यहाँ-वहाँ उसकी खोज में दौड़ा फिरता है।

भजन भरोसा एक बल, एक आस बिस्वास।
प्रीति प्रतीति इक नाम पर, (सोइ) संत बिबेकी दास॥
है खुसबोई पास में, जानि परै नहिं सोय।
भरम लगे भटकत फिरैं, तिरथ-बरत सब कोय॥

उस परमपुरुष को अपने अन्दर ही खोजना चाहिये। सब कुछ इस घट के भीतर ही है, जोग-जुगत के साथ 'उसे' खोजना होगा। पंडित, ज्ञानी, मुनि उसका पार नहीं पाते, वेद उसकी महिमा का बखान नहीं कर सकता, केवल अनुमान लगाकर चुप हो जाता है—

> दरिया तन से नहिं जुदा, सब किछु तन के माहिं।
> जोग जुगत सों पाइये, बिना जुगति किछु नाहिं॥
> अछै वृच्छ ओइ पुरुष हहिं, जिंदा अजर अमान।
> मुनिवर थाके पंडिता, बेद कथहिं अनुमान॥

'सबद' को अपने अन्तर प्रीतिपूर्वक मथने से ही उस समरथ साहिब के दीदार के दर्शन होते हैं जिसकी अगम अपार शोभा का कोई वर्णन नहीं कर सकता। यही तो प्रेम का तत्त्व है जिसे कोई बिरला प्रेमी ही अनुभव कर सकता है। जिस प्रकार एक ही वृक्ष की अनन्त शाखाएँ फैल जाती हैं, उसी प्रकार मूल में एक ही प्रभु का यह सारा पसारा है और फिर अन्त में उसी 'एक' में सबका लय हो जायगा।

> अगम पंथ की खेहि यह, बूझै बिरला कोइ।
> सत साहिब समरथ हहिं, दरिया सबद बिलोइ॥
> सोभा अगम अपार, हंस बंस सुख पावहीं।
> कोइ ज्ञानी करै बिचार, प्रेम तत्तु जाके बसै॥
> एकै सों अनंत भौ, फूटि डारि बिस्तार।
> अंत हूँ फिर एक है, ताहि खोजु निजु सार॥

'साईं' से 'परिचय' होने के बाद साधक की विचित्र स्थिति हो जाती है। वह सुरति लगाकर उस अगम्य रूप में से झरते हुए अमृत का पान कर आत्म-विभोर हो जाता है और उसकी यह स्थिति कहते-सुनते नहीं बनता—कुछ विचित्र-सी उसकी दशा है—

अमी तत्त्व अमृत पियै, देखहु सुरति लगाय।
कहत-सुनत नहिं बनि परै, जो गति काहु रखाय॥
सुधा अग्र परिमल झरै, छिरकहिं बहुत सुखारि।
दया दरस दीदार मैं मिटा कलपना खारि॥
बेवाहा के मिलन सों, नैन भया खुसहाल।
दिल मन मस्त मतवल हुआ, गूँगा गहिर रसाल॥

यह स्मरण रखने की चीज है कि दरियापंथियों में यह 'बेवाहा' शब्द बहुत ही रहस्यपूर्ण है—जिसमें साईं के नाम का संकेत है तथा उसके दर्शन की अलमस्ती भरी शराब लबालब भरी है।

परमात्मा का मार्ग बहुत ही सरल और बराबर है, हमारी अन्तर्दृष्टि ही नहीं खुलती, उस पर जगत का पर्दा बड़ी बेरहमी से पड़ा हुआ है, इसी कारण हम सच्चा मार्ग देख नहीं पाते। अंधा यदि न देख पाये, तो सूरज का क्या दोष?

है मगु साफ बराबरे, अंधा लोचन माहिं।
कवन दोष मगु भानु कहँ, आपै सूझत नाहिं॥

इस पथ में साधक ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका शरीर, मन, प्राण, आत्मा निर्मल होता जाता है और वह स्वामी के अधिकाधिक समीप होता जाता है—

पहिले गुड़ सक्कर हुआ, चीनी मिसरी कीन्ह।
मिसरी से कन्दा भया, यही सुहागिन चीन्ह॥

गीता का 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' का कितना अनुभूतिपूर्ण शब्दों में दरिया ने इशारा किया है—

दरिया-दिल दरियाव है, अगम अपार बेअंत।
सब महँ तुम तुम में सभे, जानि मरम कोई संत॥

बाबा धरनीदास

बाबा धरनीदास का जन्म बिहार प्रान्त के छपरा जिले में माँझी गाँव में संवत् १७१३ विक्रमी में हुआ था। जाति के ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। माँझी गाँव अब भी सारन जिले में बलिया जिले के पूरब घाघरा नदी के उत्तरी किनारे पर है। इन की दो रचनाएँ 'प्रेम प्रगास' और 'शब्द प्रकाश' हस्तलिखित रूप में हैं। इनकी बानियों का संग्रह बेलवेडियर प्रेस से छपा है।

कहते हैं, धरनीदासजी माँझी के एक जमींदार के घर दीवान थे। एक दिन भगवच्चिन्तन में इतने लीन हो गये कि पानी भरा हुआ लोटा जो पास रक्खा हुआ था—उन्होंने कागज और बस्ते पर ढलका दिया। बहुत पूछने पर बतलाया कि पुरी धाम में आरती के समय जगन्नाथजी के कपड़ों में आग लग गई थी जिसे बुझाने के लिये मैंने ऐसा किया। पीछे पुरी आदमी भेजकर जब जाँच करायी गयी, तो पता चला कि वास्तव में वहाँ

उक्त प्रकार की घटना घटी थी और बाबा धरनीदास की ही आकृति के एक महात्मा ने आकर उसे बुझाया था। इस घटना के बाद धरनीदास ने दीवानी छोड़ दी और प्रभु के दीवाने होकर घर पर ही साधु भेष में रहने लगे। उस घटना का स्मरण करके कभी-कभी कह उठते थे—

अब मोहे राम नाम सुधि आई।
लिखनी ना करौं रे भाई॥

गाँव के पास ही एक झोपड़ी डालकर रहते थे। चन्द्रदास नामक एक साधू से इन्होंने गृहस्थाश्रम में दीक्षा ली थी और भेष लेने पर साधु बिनोदानन्द को गुरु रूप में वरण किया। गुरुदेव विनोदानन्द का उल्लेख इन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ किया है।

गंगा-स्नान, भगवद्भजन तथा उपदेश-दान यही एकमात्र इनकी जीवनचर्या थी। सादा जीवन वृद्धावस्था तक इसी प्रकार चलता रहा। एक दिन ये अपने शिष्यों के साथ गंगा और घाघरा के संगम पर गये और वहाँ जल पर एक चादर बिछाकर बैठ गये। कुछ समय तक तो सबने इन्हें पूरब की ओर बहते देखा; किन्तु दूर चले जाने पर एक ज्योति-पुञ्जमात्र दिखलायी दिया और फिर वह भी ऊपर उठकर आकाश में लीन हो गया।

अपने सम्बन्ध में इन्होंने लिखा है—

जग मैं कायथ जाति हमारी।
पायो है माला-तिलक दुसाला परमारथ ओहदारी॥
नाम रतन को भरो खजानो धरो सो हृदय कोठारी।
है कोई परखनहार बिवेकी बारंबार पुकारी॥
धरनी साल-साल अमाली, जमा-खरच यही पारी।
प्रभु अपने कर कागज मेरो, लीजै समुझि सुधारी॥

अपने इष्टदेव का ये बाल-गोपाल के रूप में स्मरण करते हैं और काया-संबंधी षट्कर्म का भी उल्लेख इन्होंने बार-बार किया है। किस भाव-भगति के साथ प्रभु की सेवा में लगे हैं, उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

एक पिया मोरे मन मान्यो, पतिव्रत ठानों हो।
अवरो जो इन्द्र समान, तौ तृन करि जानों हो॥
जहँ प्रभु बैसि सिँहासन, आसन डासब हो।
तहवाँ बेनियाँ डोलइबों, बड़ सुख पइबों हो॥
जहँ प्रभु करहिं लवासन पौढ़हिं आसन हो।
कर ते पग सुहरइबों, हृदय सुख पइबों हो॥
धरनी प्रभु चरनामृत, नितहिं अचइबों हो।
सनमुख रहिबों मैं ठाढ़ी, अंतै नहिं जइबों हो॥

'चेतावनी' में उन्होंने गर्भ-लीला का बड़े विस्तार से वर्णन किया है और गर्भ काल में की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराया है और अंत में कहा है—

सकल संत दाया चितवनी चिताया।
धरनिदास आया सरन राम राया॥

भगवान् के विरह में धरनीदास किस प्रकार उदास हैं—

भइ कंत दरस बिनु बावरी।
मो तन व्यापै पीर प्रीतम की मूरख जानै आवरी॥
पसरि गयो तरु प्रेम साखा सखि बिसरि गयो चित चावरी।
भोजन भवन सिंगार न भावै कुल करतूति अभाव री॥
खिन-खिन उठि-उठि पंथ निहारौं, बार-बार पछिताव री।
नैन न अंजन नींद न लागै, लागै दिवस बिभावरी॥

देह दसा कछु कहत न आवै, जस जल ओले नाव री।
धरनी धनी अजहुँ पिय पाओं, तौ सहजै अनँद बधाव री॥

उसी 'महबूब' को संबोधित कर धरनीदास कहते हैं—

मैं आसिक महबूब तू दरसा।
बेगर तोहि जहान जहर-सा।
देहु दीदार दिलासा यूही।
नातर जाव बिनसि बरु देही॥

अपनी ओर देखकर धरनीदास गले जाते हैं, परन्तु प्रभु की ओर जब दृष्टि जाती है, तो कृतकृत्य होकर नाचने लगते हैं—

मैं निरगुनियाँ गुन नहीं जाना।
एक धनी के हाथ बिकाना॥
सोइ प्रभु पक्का मैं अति कच्चा।
मैं झूठा मेरा साहब सच्चा॥
मैं ओछा मेरा साहब पूरा।
मैं कायर मेरा साहब सूरा॥
मैं मूरख मेरा प्रभु ज्ञाता।
मैं किरपिन मेरा साहब दाता॥
धरनी मन मानो इक ठाऊँ।
सो प्रभु जीवो मैं मरि जाऊँ॥

संसार में जीवन उसी का धन्य है जिसने प्रभु के चरणों में प्रीति जोड़ी और उस माशूके आलम के हाथ से इश्क की शराब पी—

जग में सोई जीवनि जिया।
जाके उर अनुराग उपजो, प्रेम पियाला पिया॥

यह प्याला पीते ही प्राण पुकार उठते हैं—

अजहुँ मिलो मेरे प्राण पियारे।

दीनदयाल कृपाल कृपानिधि करहु छिमा अपराध हमारे॥

कल न परत अति विकल सकल तन नैन सकल जनु बहत पनारे।

मांस पचो अरु रक्त रहित भे हाड़ दिनहुँ दिन होत उघारे॥

नासा नैन स्रवन रसना रस, इन्द्री स्वाद जुदा जनु हारे।

दिवस दसो दिसि पंथ निहारति राति विहान गनत जस तारे॥

जो दुख सहत कहत न बनत मुख अंतरगत के हौ जाननिहारे।

धरनी जिव झिलमिलित दीप ज्यों होत अंधार करो उँजियारे॥

धरनीदास ने 'ककहरे' पर तीन स्थानों में पद कहे हैं। 'अलिफनामा' और पहाड़े पर भी उपदेश लिखे हैं। उनका 'बारहमासा' उपदेशों से भरा है—उसमें प्रकृति के सौंदर्य का कहीं नाम नहीं। उसमें मिलन का आनन्द और विरह का संताप उभरा पड़ता है।

गरीबदास जी

रोहतक-हरियाने के झज्झर तहसील के छुड़ानी गाँव में वैशाख शुक्ला पूर्णिमा सम्वत् १७७४ को गरीबदास का जन्म एक जाट परिवार में हुआ था। घर में खेती-बारी होती थी। गरीबदास आजीवन गृहस्थ ही रहे और गृहस्थाश्रम में ही साधु-जीवन व्यतीत करते हुए ६१ वर्ष की अवस्था में भादों शुक्ला २ सम्वत् १८३५ को शरीर छोड़ा। इनके चार लड़के और दो लड़कियाँ थीं। कुछ लोगों का कहना है कि गरीबदास की महासमाधि के बाद इनका एक पुत्र गद्दी पर बैठा और कुछ लोग यह कहते हैं कि इनके शिष्य सलोतजी ने गद्दी पायी। आजकल तो प्रथा यही है कि पुत्र ही गद्दी पाते हैं।

कहते हैं, गरीबदास को स्वप्न में कबीर ने गुरुमुख किया था। इनकी साखियों में गुरु-रूप में कबीर की ही चर्चा बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ आती है। इनके पंथ में बहुत लोग हैं और

हरियाना-रोहतक-हिस्सार, तथा गुड़गाँवा के जिलों में कई स्थानों में इनके शिष्य मिलते हैं जो अपने को गरीबदासी कहते हैं । इनका वंश भी अभी चल रहा है । गाँव छुड़ानी में फागुन सुदी दसमी को एक बहुत बड़ा मेला गरीबदासियों का लगता है ।

गरीबदास के सम्बन्ध में कई चमत्कार मिलते हैं—अकाल में पानी बरसा देना, जेल से छूट आना, मरे हुए व्यक्ति को जीवित कर देना इत्यादि । रोहतक जिले के एक साहूकार का लड़का, जो पीछे जाकर संतोषदास कहलाया, गरीबदास के चरणों के आश्रय में साधु होने के लिये आया । गरीबदास ने उसे स्वीकार कर लिया । परन्तु, कुछ ही दिनों के बाद उसका पिता आया और गरीबदास को भला-बुरा कहने लगा । गरीबदासजी चुपचाप सुनते रहे, अंत में उसने कहा कि यह तो तुम्हारा शिष्य बना, परन्तु इसकी युवती बहू का क्या होगा ? गरीबदास ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—'यह मेरा भाई, वह मेरी बहिन' । कहते हैं उस युवती बहू को भी घर-गृहस्थी से बैराग्य हो गया और वह भी अपने पति के साथ बाबा गरीबदास के चरणों मे रहने लगी ।

गरीबदास के पहनने का जामा, बँधी हुई पगड़ी, धोती, जूता और लोटा-कटोरी तथा पलंग इनकी समाधि के स्थान में रखा हुआ है । वंदना में गरीबदास ने अपने इष्टदेव का इस प्रकार ध्यान किया है—

निराकार निर्विषयं, काल-जाल-भय-भंजनं ।
निर्लेपं निज निर्गुणं, अकल अनूपं सुन धुनं ॥
सोऽहं सुरत समाहितं, सकल समाना निरत लै ।
उजल हिरम्बर हर दमं, बेपरवाह अथाह है ॥
वार पार नहिं मध्यतं ॥

हिरम्बर का अर्थ है हिरण्यमय। सुरत के द्वारा उस हिरण्यमय निराकार निर्विषय निर्लेप साहब के अनूप रूप में लय होकर तद्रूप होनेवाले संतों में गरीबदासजी का बहुत ऊँचा स्थान है।

गरीबदास की चेतावनी और संतों की तरह कर्कश-कठोर नहीं है, बड़े मीठे ढंग से इन्होंने समझाया है—

पानी की इक बूँद सूँ साज बनाया जीव।
अंदर बहुत अँदेस था बाहर बिसरा जीव॥
पानी की इक बूँद सूँ साज बनाया साँच।
राखनहारा राखिया जठर अगिनि की आँच॥
उरधमुखी जप रहे थे तल सिर ऊपर पाँव।
राखनहारा राखिया जठर अगिनि की लाव॥
धूआँ का-सा धौरहर बालू की-सी भीत।
उस खाविंद कूँ याद कर महल बनाया सीत॥
यह मन मंजन कीजिये रे नर बारंबार।
साईं से कर दोसती बिसर जाय संसार॥
गगन-मंडल में रमि रहा तेरा संगी सोय।
बाहर भरमे हानि है अंतर दीपक जोय॥
चित के अन्दर चाँदना कोटि सूर ससि-भान।
दिल के अन्दर देहरा काहे पूज पखान॥
झिलमिल दीपक तेज कै दसों दिसा दरहाल।
सतगुरु की सेवा करै पावै मुक्ता-माल॥
चेत सकै तो चेतिये कूकै संत सुमेर।
चौरासी कूँ जात है फेर सकै तो फेर॥
यह संजम सैलान कर यह मन यह बैराग।
बन बसती किन ही रहौ लगा बिरह का दाग॥

संक्षेप में भावार्थ यह है कि एक बूँद से साईं ने इस काया को

गाढ़ा। उसने गर्भ की जठराग्नि में इसकी रक्षा की। वहाँ उसे प्रभु का निरन्तर दर्शन होता रहा। वहाँ इसने प्रभु से प्रार्थना की कि मुझे इस अग्नि से निकालिये, तो मैं प्रतिदिन आपका ध्यान-स्मरण किया करूँगा; परंतु बाहर आते ही जगत की माया से प्रेरित होकर वह प्रभु को बिसार बैठा। यही तो सारी विपत्ति का मूल है। परन्तु जब भी मनुष्य चेत सके, चेत जाना चाहिये और वह चेतना क्या है—इसे सभी संतों की तरह गरीबदास ने भी कहा है—वह है हरि-स्मरण! यदि स्मरण की लौ जलती रहे, तो क्या महल और क्या जंगल—सब समान है। गरीबदास ने बार-बार कहा है कि इस काया के भीतर ही 'हंस' कुरेल कर रहा है। उससे परिचय करना चाहिये। आनंद के लिये इसके अतिरिक्त और कोई उपाय है नहीं।

इस 'परिचय' के लिये सतगुरु के चरणों का एकांत आश्रय अनिवार्य है। गरीबदास ने अपने गुरु के संबंध में कहा है—

ऐसा सतगुरु हम मिला, बेपरवाह अबंध।
परमहंस पूरन पुरुष, रोम-रोम रवि-चंद॥

ऐसा सतगुरु हम मिला, तेजपुंज का अंग।
झिलमिल नूरजहूर है, रूप रेख नहिं रंग॥

ऐसा सतगुरु हम मिला, खोले बज्र कपाट।
अगम भूमि में गम करी, उतरे औघट घाट॥

ऐसा सतगुरु हम मिला, मारी गाँसी सैन।
रोम-रोम में सालती, पलक नहीं है चैन॥

ऐसा सतगुरु हम मिला, भवसागर के माँहि।
नौका नाम चढ़ाय करि, ले राखे निज ठाँहि॥

सतगुरु की महिमा में पूरी सौ साखियाँ गरीबदास ने लिखी हैं जो एक से-एक सुन्दर हैं और उनके अनुशीलन से पता चलता है कि गरीबदास की गुरु के प्रति अगाध भक्ति थी।

गुरूपदिष्ट रामनाम मंत्र से ही शिष्य का बेड़ा पार हो जाता है ऐसी संतों की मान्यता है। इस 'रामनाम' में, जो गुरुमुख से प्राप्त होता है, एक विलक्षण विद्युत् शक्ति होती है जो एक क्षण में ही साधक को कुछ का कुछ बना डालती है। अजपा जाप के द्वारा नामस्मरण का जो रस है, उसे विरले ही लोग जानते हैं और जिसने एक क्षण भी वह आनन्द पा लिया, उससे फिर वह 'नाम' छूटता ही नहीं। जिस प्रकार हमें साँस लेने में श्रम नहीं पड़ता, उसी प्रकार नामस्मरण भी अनायास होता रहता है—उसके लिये कोई प्रयास या चेष्टा नहीं करनी पड़ती। मंत्र में एक दिव्य चेतना आ जाती है, जो साधक के समस्त मन-प्राण को आत्मसात् कर लेती है। अजपा जाप पहले साँसों के द्वारा ही शुरू किया जाता है; फिर वह और भी सूक्ष्म होकर प्राणों की गति या धड़कन के साथ मिल जाता है और फिर वह सूक्ष्मतम होकर स्वतः स्फुरित होने लगता है। रज्जब ने अजपा जाप की परिभाषा यों की है—

सरिर सबद अरु साँस करि, हरि सुमिरन तिहुँ ठाँव।
जन रज्जब आतम अगम, अजपा इसका नाँव॥

मन पवन अरु सुरति कौं, आतम पकड़े आप।
रज्जब लखै तत्त सौं, यौं ही अजपा जाप॥

मुष से भजे सो मानवी, दिल सौं भजे सो देव।
जीव सौं जपै सो जोति मैं, रज्जब साँची सेव॥

धरमदासियों ने इस अजपा जाप की परिभाषा यों की है—

जाप अजपा हो सहज धुन परखि गुरु गम धारिए।
मन पवन थिरकर शब्द निरखे कर्म मन्मथ मारिए॥
होत धुन रसना बिना कर माल बिन निर्वारिए।
शब्द-सार विदेह निरखत अमर लोक सिधारिए॥

दादू ने तो नामस्मरण की प्रीति को इस प्रकार बखाना है—

सुंदरि कबहूँ कंत का मुख सौं नाउँ न लेइ।
अपने पिय के कारने दादू तन मन देइ॥

अर्थात् पत्नी अपने पति का नाम नहीं लेती—पति का नाम उसके शरीर-मन-प्राण-आत्मा में घुला हुआ रमण करता रहता है। ठीक इसी प्रकार सच्चे स्मरण करनेवाले को नामस्मरण करना नहीं पड़ता। नाम तो उसका प्राण है और उसका सतत स्मरण स्वतः उसकी हृदय-गुफा में होता रहता है।

गरीबदास ने नामस्मरण के संबंध में कहा है—

अमर अनाहद नाम है, निरभय अपरंपार।
रहता रमता राम है, सतगुरु चरन जुहार॥
बिन रसना है बंदगी, बिन चस्मों दीदार।
बिन सरवन बानी सुनै, निर्मल तत्त निहार॥
सकल बियापी सुरत में, मन पवना गहि राख।
रोम-रोम धुनि होत है, सतगुरु बोले साख॥
अगम अनाहद भूमि है, जहाँ नाम का दीप।
एक पलक बिछुरै नहीं, रहता नैनों बीच॥
नाम बिना क्या होत है, जप-तप संजम ध्यान।
बाहर भरमै मानवो, अभि-अंतर में जान॥

—फिर अंत में स्मरण का सहज-स्वरूप प्रगट करते हैं—

सुमिरन तब ही जानिये, जब रोम-रोम धुनि होय।
कुंज कमल में बैठि करि, माला फेरै सोय॥

अन्तर में जो अनाहत (अनहद) ध्वनि होती है—जो कभी मेघ गरजने की-सी, कभी मृदंग बजने की-सी, कभी घुँघरू बजने की-सी और कभी वंशी बजने की-सी होती है, उसके आनन्द का उल्लेख गरीबदास ने यों किया है—

> गगन गरज घन बरषहीं, बाजै अनहद तूर।
> लै लागी तब जानिये, सन्मुख सदा हुजूर॥
> गगन गरज घन बरषहीं, बाजै दीरघ नाद।
> अमरापुर आसन करै, जिनके मते अगाध॥

जिस प्रकार वेश्या अपनी उम्र छिपाती है, जिस प्रकार सती स्त्री अपने गोपनीय अंग को छिपाती है, उसी प्रकार भक्ति को छिपाकर रखना चाहिये, कहीं प्रगट न हो जाय, कहीं कोई जान न ले—

> जैसे माता गर्भ को, राखै जतन बनाय।
> ठेस लगे तो छीन है, ऐसे भगति दुराय॥

'भक्ति के अंग' में गरीबदास ने ध्रुव-प्रह्लाद से लेकर कबीर, रैदास, धन्ना और पीपा आदि संतों और भक्तों के नाम का उल्लेख किया है तथा दुहाई भरी है।

'लौ' का साधारण अर्थ है दीपक का जागता हुआ प्रकाश। दीपक में तेल भर दिया जाता है, बत्ती डाल दी जाती है और उसे एक बार 'लेस' दिया जाता है, फिर जब तक दीपक में तेल है, बत्ती बली हुई है और बाहर के आँधी-तूफान से वह सुरक्षित है तब तक वहाँ प्रकाश बना रहेगा, लौ जलती रहेगी। ध्यान इस बात का रखना होगा कि तेल समाप्त न होने पावे, बत्ती बुझने न पावे। और जहाँ अखण्ड दीप की बात है वहाँ तो सतत सावधान रहना ही पड़ेगा। एक क्षण की विस्मृति में दीपक के बुझ जाने और घोर अंधकार के घिर आने की आशंका है।

अंतर की 'लौ' के संबंध में भी ठीक यही बात है। वहाँ भी सतत सावधान रहना पड़ता है। एक पल के लिये भी वृत्ति बहिर्मुख हुई नहीं कि सब कुछ मिटा। मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, आत्मा सभी के सभी भगवान् के स्मरण में डूब जायँ, वहीं उस परम दिव्य-स्पर्श की पावन अनुभूति में छके रहें—यही अखण्ड जागरण है—यही है संतों की भाषा में 'लौ'।

गरीबदास ने इस लौ के संबंध में अपने अनुभव को बड़े ही सजीले शब्दों में व्यक्त किया है—

> लै लागी तब जानिये जग सूँ रहै उदास।
> नाम रटै निरभय कला हरदम हीरा स्वाँस॥
> लै लागी तब जानिये जग सूँ रहै उदास।
> नाम रटै निरद्वंद होय अनहदपुर में बास॥
> लै लागी तब जानिये हरदम नाम उचार।
> एकै मन एकै दिसा साँई के दरबार॥
> लै लागी तब जानिये हरदम नाम उचार।
> एकै मन एकै दिसा सदा रहै दरबार॥
> गगन गरज भाठी चुए हीरा घंटिक सार।
> लै लागी तब जानिये उतरै नहीं खुमार॥
> गगन गरज घन बरषहीं दामिनि खिमै अखंड।
> दास गरीब कबीर है सकल दीप नौ खंड॥

लौ की खुमारी एक क्षण के लिये भी नहीं उतरती—यह वह नशा है, जो आठ पहर चौंसठ घड़ी बना ही रहता है और इस नशे में चूर संत फिर संसार के कोलाहल में नहीं लौटता—वह उसी में अहर्निश छका अलमस्त डोलता रहता है। उस नशा—'अमल' के संबंध में स्वयं गरीबदास ने गाया है—

में असली निज नाम का, मद खूब चुवाया।
पिया पियाला प्रेम का, सिर साँटे पाया॥
रंगमहल में रोसनी, रमते से मेला।
परसा दास गरीब है, सतगुरु का चेला॥

इस नशे में झूमते हुए, इस दिव्योन्माद में मदमत्त गरीबदास के 'रंगमहल' की झाँकी लीजिये—

बंगला अजब बना है खूब, जामें पारब्रह्म महबूब॥ टेक॥
आगे नौ लख पातुर नाचैं, ब्रह्मानन्द रिझावैं।
तेजपुंज की सुन्दर नारी, अनहद मंगल गावैं॥
पीताम्बर फहरातु तासु पै, सूहे बस्तर साजैं।
एक कान्ह औ नौ लख गोपी, बँगले माहिं बिराजैं॥
चंद सूर दो अधर चिरागा, हुकुमी पौन औ पानी।
सकल संत औ सकल साहबी, बंगले माहिं बिनानी॥
पाँचो तत्त खवास खड़े हैं, हाजिर नाजिर जाके।
तिरलोकी का राज रसातल, क्या कौड़ी धज ताके॥
सब रतनन का रतन नाम है, नाम रतन कूँ जानै।
इन्द्र का राज काग की बिष्ठा, जासे उलटा तानै॥
हीरा मोती जवाहिर ताईं, पारस पल्ले न बाँधे।
सब्द सिंध चिंतामन साहब, सुरत गमन कूँ साधै॥
चिंतामन पारस परमेसर, हिरदे माहिं बिराजै।
गरीबदास ताहीं कूँ सेवै, जाका अबिचल राजै॥

इस पद को ध्यानपूर्वक पढ़ने से संतों के अन्तर के अन्तःपुर का एक बहुत ही भव्य सुन्दर दृश्य सामने आ जाता है। और फिर उस लोक में प्रवेश हो जाने पर यहाँ का सारा रस-रंग फीका मालूम पड़ता है।

तुलसी साहब का सुरति-योग

तुलसी साहिब जिन्हें लोग 'साहिबजी' भी कहते थे, दक्षिणी ब्राह्मण थे। ये पूना के युवराज थे और नाम था श्यामराव। इनकी इच्छा न होते हुए भी १२ वर्ष की अवस्था में पिता ने इनकी शादी कर दी; परंतु मन ही मन इन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया था और विवाह हो चुकने पर भी ब्रह्मचर्य से ही रहे। इनकी पत्नी बहुत ही पतिपरायणा सती-साध्वी स्त्री थी। उसने अपनी सेवाओं से इन्हें प्रसन्न कर लिया और एक दिन उसने इनके निकट एक पुत्र की इच्छा प्रगट की। तुलसी साहब ने उसकी इस इच्छा को सहर्ष स्वीकार कर लिया और दस महीने बाद दम्पति के पुत्र-रत्न भी प्राप्त हुआ।

राज्याभिषेक के एक दिन पहले तुलसी साहब (श्यामराव) घोड़े की सवारी करके पूने से भाग चले। राजा ने चारों ओर आदमी दौड़ाये; परन्तु कहीं भी कुछ पता नहीं लगा। सुतरां

निराशा होकर उसने अपने मँझले राजकुमार बाजीराव को गद्दी पर बठाया। श्यामराव कितने ही वर्ष जंगलों-पहाड़ों की खाक छानते रहे। और फिर अलीगढ़ के समीप हाथरस में स्थायी रूप से साधुभेष में रहने लगे और सत्संग जारी किया।

घर से निकलने के बयालीस वर्ष बाद बिठूर में इन्हें एक बार अपने छोटे भाई बाजीराव से मुलाकात हुई। 'सुरत विलास' में इसकी चर्चा आयी है। बाजीराव ने इन्हें राज्य में पुनः लौटा ले जाने की बड़ी-बड़ी चेष्टायें कीं; किंतु ये राजी नहीं हुए और चुपचाप वहाँ से खिसक गये।

संवत् १८२० के लगभग इनका जन्म हुआ था और लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में जेठ सुदी २ संवत् १८६६ में इन्होंने शरीर छोड़ा। इनका 'घट रामायण' बहुत ही प्रामाणिक ग्रंथ है जिसमें स्पष्ट शब्दों में आपने स्वीकार किया है कि पूर्व जन्म में आप ही गोस्वामी तुलसीदास थे। संभव है यह बात इनके शिष्यों ने पीछे से जोड़ दी हो; क्योंकि इन्होंने एक स्थान पर कहा है कि—

'राम रावन की जुद्ध बड़ाई, सो मैं नहीं कीन बनाई॥'

हाथरस में अब भी इनकी समाधि है।

तुलसी साहब ने अपने गुरुदेव का गुण तो गाया है; परंतु पता नहीं चलता कि इन्होंने किनसे दीक्षा ली थी। एक स्थान पर इन्होंने इतना लिखा है—

तुलसी संत दयाल, निज निगाह सो को कियो।
लियो सरन के माहिं, जाइ जन्म फिर कर जियो॥

मलिक मुहम्मद जायसी की तरह तुलसी साहब भी एक कम्बल लपेटे अपने सुरति के नशे में चूर अलमस्त डोला करते थे; और प्रायः हर समय ध्यान की प्रगाढ़ावस्था में वाणियाँ इनके मुख से अपने आप निकल आया करतीं थीं जिन्हें पास रहनेवाला

कोई शिष्य नोट कर लिया करता था। इनके अनुयायी इस देश में बहुत हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'घट रामायण', 'रत्नसागर' और 'शब्दावली' हैं। 'पद्मसागर' एक अधूरा ग्रंथ है।

संत-मत में यह मान्यता है कि हृदय में गुरु के लिये तीव्र वेदना होने पर स्वयं परमात्मा ही गुरु-रूप में आ जाते हैं या किसी योग्य गुरु को भेज देते हैं। 'शब्दावली' के आरंभ में तुलसी साहब की यह गंभीर वेदना बड़ी ही कसकीली है—

कोइ सतगुरु देव री बताइ, चरण गहूँ ताहि के ॥ टेक ॥
चहुँ दिसि ढूँढ़ि फिरी कोई भेदी पूछत हौं गुहराइ।
उनसे कहूँ बिथा सब अपनी, केहि विधि जीव जुड़ाइ ॥
जो कोइ सखी सुहागिन होवै, कहै तन तपन बुझाइ।
पिउ की खोज खबर कहै मो से, मरूँ री बिकल कर हाइ ॥
बिन स्वामी सिंगार सुहागिन, लानत तोबा ताइ।
पिय बिन सेज बिछावे ऐसी, नारि मरै विष खाइ ॥
सतगुरु बिरहिन बान कलेजे, रोवै और चिल्लाइ।
हाय-हाय हिये में निसि-बासर, हरदम पीर पिराइ ॥
इस झुंड में कोई पाक पियारी, पिया दुलारी आहि।
मैं दुखिया हौं दर्द दिवानी, प्रीतम दरस लखाइ ॥
तुलसी प्यास बुझै प्यारे से, चढ़ घर अधर समाइ।
किरिपावंत संत समझावै, और न लगै उपाइ ॥

अपने विरह-व्याकुल चित्त की छटपटी को व्यक्त करते हैं—

सखी! आँखि नींद न आवै री, प[illegible] री बैरन बिरह जगावै ॥
सूनी सेज पिया बिन व्याकुल, पीर सतावै री।
रैन न चैन दिवस दुख व्यापै, जग नहीं भावै री ॥
तड़फत बदन बिना सुख सइयाँ, सब जरि जावै री।
विषधर लहर उठै नागिन-सी, ज्यों डस खावै री ॥

देवै मौत दइ बिरहिन को, होते मरी जावे री।
कैफ बिना तुलसी तन सूखे, जिय तरसावे री॥

विरह की यह व्याकुलता ही 'अभिसार' का कारण बन जाती है और तुलसी साहब सारा साज-शृङ्गार सजाकर प्रिय-मिलन को चलते हैं—

अली अलबेली नार पार पिया पै चली।
सुंदर कीन्ह सिंगार, सार स्रुति से मिली॥
चढ़ी महल पर धाय, राह रवि कोट है।
जैसे प्रीति चकोर चंद चित चोट है॥
अधर अटारी माँहि लगन पिय से लगी।
जैसे डोर पतंग संग रंग में पगी॥
देखि पिया को रूप भूप कोइ ना लपै।
ज्यों भुयंग मणि भाव भूमि भूमी दिपै॥
तेजपुंज पिया देस भेष कहो को लखै।
ऐसा अगम अनूप जाय कहो को सकै॥
मैं पिया की बलिहार प्यार मोहिं सो कियौ।
दीन्ह पलँग सुख साज काज हरखो हियौ॥
जाऊँ नितनित सेल केलि पति सों करौं।
जिनकी तिनको लाज काज पति से सरौ॥
तुलसी कहै बिचार, सार सबसे कही।
बिन सतगुरु नहिं पार, भिन्न कैसे भई॥

तुलसी साहब की साधना और अनुभूति सुरति-योग की है। सुरति-योग क्या है, इसे संक्षेप में यहाँ समझ लेना आवश्यक है। 'सुरत' शब्द संत-मत में बड़ा ही रहस्यपूर्ण शब्द है और भिन्न-भिन्न विद्वान् इसका भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। कुछ तो इसे 'स्रोत' का अपभ्रंश मानते हैं और 'चित्त-वृत्ति-प्रवाह' को ही

सुरत मानते हैं। कुछ इसे 'स्मृति' का अपभ्रंश मानते हैं और अपने पक्ष के समर्थन के लिये रामचरित मानस का यह दोहा दृष्टान्तरूप में देते हैं—

यह बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरत बिसरि जनि जाइ॥

राधा स्वामी मत में 'सुरत' का कुछ और ही अर्थ है। शब्द दो प्रकार के होते हैं—आहत और अनाहत। आहत शब्द वे हैं जो दो वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न होते हैं और अनाहत वे हैं जो स्वतः अर्थात् बिना किसी आघात के उत्पन्न होते हैं। अनाहत शब्दों में सुरत अर्थात् ध्यान के जोड़ने को ही सुरत शब्द-योग मानते हैं। हमारे शरीर में विद्यमान आत्मशक्ति की धाराओं से अनेक ध्वनियाँ होती हैं, जिन्हें सुनने में हमारी स्थूल श्रवणेंद्रिय सर्वथा असमर्थ है ; परन्तु यदि कोई मनुष्य साधन करके अपनी सूक्ष्म और चेतन श्रवणेन्द्रिय को जागृत कर ले, तो उनके द्वारा उसको अवश्य ही सूक्ष्म और चेतन शब्दों का अनुभव प्राप्त होगा—आवश्यकता है अपने भीतर सोई हुई दिव्य-शक्तियों को जगाने की। दिव्य-शक्ति के जागरण पर सुरत शब्द के अभ्यासी को एक दिव्य शीतलता और निर्मलता का बोध होता है और फिर उसका हृदय उस शीतलता, शान्ति, निर्मलता आदि की लहरों से गद्गद् हो जाता है।

हमारी इस काया के भीतर इन गुप्त शक्तियों का जहाँ केन्द्र है, उसे चक्र-कमल और पद्म कहते हैं। ये कमल जब खुलते हैं और चैतन्य हो जाते हैं, तो प्रभु के दर्शन अपने घट के भीतर ही हो जाता है। सुमिरन और ध्यान के द्वारा ही सुरत इन कमलों को जाग्रत एवं चैतन्य करता है। ये चक्र या कमल छः हैं—मूलाधार,

स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र। इसके बाद सहस्रदल पद्म है।

प्रायः सभी संतों में काया-शुद्धि और चक्र-भेदन की क्रियाओं का अनुभव मिलता है; परंतु उनकी सुरति का अर्थ इतना ही नहीं है। सुरति शब्द 'रति' से बना है। रति के बहुत व्यापक अर्थ में और इसके सही अर्थ में आत्मा का परमात्मा में, परमात्मा का आत्मा में रमण है। यही भाव संतों की सुरति का है। आत्मा जब परमात्मा में रमण करने लगता है, तो वह पत्नी रूप में ही परम पुरुष का रसास्वादन करता है।

बृहदारण्यक-४-३-२१ का एक मंत्र है—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्रज्ञानेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरम्। तद्वा अस्य एतदाप्तकामं आत्मकामं अकामं रूपम्।

जिसका भावार्थ यह है कि जिस प्रकार पुरुष अपनी प्रिय पत्नी के आलिङ्गन में बाह्य और भीतरी सारी बातों से विभोर हो जाता है, बेसुध-बेसँभार हो जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा परम पुरुष का आलिङ्गन पाकर भीतर-बाहर की सारी बातों से बे-खबर हो जाता है।

ठीक इसी 'रमण' के अर्थ में संतों का सुरति शब्द व्यवहृत हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें कायाशोधन और चक्रभेदन आदि भी सम्मिलित है—समस्त प्रक्रिया का नाम 'सुरत' है। गोपियों ने श्रीकृष्ण के प्रति इसी शब्द का लगभग इसी अर्थ में व्यवहार किया है—

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मरणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥

भागवत १०, ३१, १४

हे वीर, हे दयित, आप हमें अपना अधरामृत पिलावें जो कि सुरतवर्द्धन और शोक का नाशक है, सुरति जिसका रसपान किया करती है और जो मनुष्य की सारी इच्छाओं को भुला देनेवाला है।

तुलसी साहब ने गाया है—

अलि पार पलँग बिछाइ पल पल, ललक पिउ सुख पावही।
खुस खेल मेल-मिलाप पिउ कर, पकरि कंठ लगावही॥
रस-रीति जीति जनाइ आसिक, इस्क-रस बस लै रही।
पति पुरुष सेज सँवार सजनी, अजब अलि सुख का कही॥
सुख बैन कहनि न सैन आवै, चैन चौज चिन्हावही।
अलि संत अंत अनंत जानै, बूझि समझि सुनावहीं॥
जिन चीन्हि तन-मन सुरत साधी, भवन भीतर लखि लई।
जिन गाइ सब्द सुनाइ साखी, भेद भाषा भिनि भई॥

इस सुरति में मिलन और विरह दोनों ही समान रस देनेवाले हैं—

पी की मोहिं लहर उठत खुटत रैन नाहीं।
कहा कहूँ करमन की रेख हिये की दरदाई॥
अँखिया ढुर ढुरत नीर सखियाँ सुख नाहीं।
पपिहा पिउ पिउ के बोल बोलत खिसियाई॥

× × ×

बिरह में बेहाल बिकल सुध-बुध बिसराई।
रजनी नहिं नींद नैना दीदा दरसाई॥
सखियाँ सुम सेज पास गाज परत आई।
पलँगा पर पाँव धरत नागिन डस खाई।

× × ×

मेरे दरद की पीर कसक किससे मैं कहूँ॥

ऐसा हकीम होय जोई जान दे दहूँ।
खटकै कलेजे बीच बान तीर से सहूँ॥
जैसे तड़फती मीन नीर पीर ज्यों सहूँ।
जैसे चकोर चंद चाह चित्त से चहूँ॥
सोची सुबह और साम पिया धाम कस गहूँ।
तुलसी बिना मिलाप छुरी मार मर रहूँ॥

फिर तुलसी ने अगम के महल पर सुगम की सैल से, सुरति की सैन द्वारा पहुँचकर अलख की ज्योति को निरखा है। इस दीदार की मस्ती में उन्होंने गाया है—

अंबर अनूप रूप भूप साहिबी।
देखा दिलदार यार बात प्यार की॥
दीदा दिल लहर मेहर सहर आसिकी।
पहुँचे कोइ समझ सूर नूर बास की॥
जिसका यह हाल सोई आसिक न्यारा।
खिलकत का खेल झूठ जक्त पसारा॥
ऐसे कोइ अलख लोग बूझ बिचारैं।
तुलसी दरवेश सोई मन को मारै॥

मन को मारना या आपनपौ खोना एक ही बात है; क्योंकि बिना ऐसा किये प्रीतम की प्रीति मिलती नहीं—

पिया प्रेम-रस रीति की, प्यारी मिलन मिलाप।
आप आपनपौ खोइके, सब छूटी तन ताप॥

इस मिलन के बाद सारी व्यथा मिट जाती है—

पीर गुसाइयाँ प्यारे पिया दीदों दी॥
बार-बार तन-मन बलिहारी, ताप तपन तीनों खोई।
जोई निरख नैन से प्यारी, दुख-सुख सम्पति सब धोई॥
मलन्दहियाँ पीर सखाइयाँ॥

स्वामी रामतीर्थ की आध्यात्मिक मस्ती

भगवत्प्रेम की साधना भी एक अजीब नशा है। जहाँ एक बार लौ लगी कि लगी। प्रेम की एक नन्हीं-सी चिनगारी हृदय में प्रवेश करते ही सब कुछ आत्मसात् कर लेती है। हृदय के भीतर हृदयेश जब पूरी तरह दीख जाते हैं तब तो बाहर, वसुंधरा के कण-कण में भी केवल वही वह रह जाते हैं—जहाँ आँखें जाती हैं, वहीं प्रभु मुसकाते हुए खड़े रहते हैं। प्रेम का रस जब पूरी तरह रोम-रोम में भिन गया तब संसार में प्रेमदेव के सिवा रह ही क्या गया ?

अजब तेरा कानून देखा खुदाया !
जहाँ दिल दिया फिर वहीं तुझको पाया !!
जो तुझ से सिवा दिल हुआ एक दरी ।
उसे प्रेम का तूने जल्वा दिखाया ॥
तेरी पाक सूरत का आशिक हुआ जो ।
वही रँग रँगा फिर जो तूने रँगाया ॥

प्रभु-प्रेम के ऐसे दीवानों के दर्शन दुर्लभ ही हैं। चैतन्य और मीरा, ईसा और मंसूर संसार में कितने हुए? ऐसे प्रेमियों की जिसपर दृष्टि पड़ी, वही प्रेम में पागल हो गया। वे जहाँ रहते हैं, वहाँ के परमाणुओं में ही कृष्ण-प्रेम भरा रहता है! उनका स्पर्श ही संक्रामक है। उनके चरणों को चूमकर पृथ्वी भी अपना भाग्य सराहती है। वायु उनके स्पर्श में आकर प्रभु-प्रेम की खुशबू से महँ-महँ हो उठती है।

अभी, इस बीसवीं सदी में प्रभु का एक ऐसा दीवाना संसार में आया था जो 'राम बादशाह' के नाम से प्रख्यात है। किस सन् में कहाँ उसका जन्म हुआ और कब कहाँ उसकी मृत्यु हुई ये बातें अप्रासंगिक होंगी। क्योंकि ऐसे प्रेम-दीवाने तो न कहीं आते हैं न कहीं जाते हैं। जो बादशाहों के बादशाह में एक होकर रहा वह बराबर रहा—वह भला मिटेगा कैसे? वह ललकारकर कहता है—

न है कुछ तमन्ना न कुछ जुस्तजू है,
कि वहदत में साकी न सागर न बू है !!
मिलीं दिल को आँखें जभी मारफत की,
जिधर देखता हूँ, सनम रू-बरू है !!
गुलिस्ताँ में जाकर हर इक गुल को देखा,
तो मेरी ही रंगत व मेरी ही बू है !!
मेरा तेरा उट्ठा, हुए एक ही हम,
रही कुछ न हसरत न कुछ आरजू है !!

परमात्मा को जो सर्वत्र देखता है, जो सर्वदा उसी एक को देखता है, वही उस प्रेममद में छके रहने के कारण बोल उठेगा—

जैसी तेरी खुशी हो सब नाच तू नचा ले।
सब छान-बीनकर ले, हर तौर दिल जमा ले!

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।
याँ यों भी वाह वा है औ वों भी वाह वा है !!
जीता रखे तू हमको या तन से सर उतारे।
अब राम तेरा आशिक कहता है यों पुकारे ॥
राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।
याँ यों भी वाह वा है औ वों भी वाह वा है !!

एक दिन सन्ध्या समय रावी नदी के पार वन में स्वामी रामतीर्थ घूम रहे थे। आकाश में घनघोर घटा छा रही थी। काले-काले बादलों को देखकर तो आप कुछ देर समाधिस्थ-से रहे और फिर बड़े जोर से रोकर कहने लगे— 'हे कृष्ण! हे घन-श्याम! हे श्यामसुन्दर! ये श्याम रंग के बादल आपका रंग है। ये मुझे व्याकुल कर रहे हैं। प्यारे! इतना क्यों तरसाते हो? बताओ तो सही कौन-से कुञ्ज में तुम छिपे हुए हो? अरे बादल! तू ऊँचाई से बहुत कुछ देख सकता है; फिर बता मेरा कृष्ण कहाँ है? अच्छा मैं समझ गया! तूने उसके वियोग की व्यथा में अपना श्यामवर्ण बना रक्खा है। क्या मुझे उस प्यारे कृष्ण का दर्शन प्राप्त न होगा? यह संसार बिना उस कृष्ण-दर्शन के काट खायगा! यह वियोग की व्यथा किसके आगे रोऊँ? हे कृष्ण! तुम्हारे लिये मित्र और सम्बन्धियों से मुख मोड़ा, संसार की लाज-शरम छोड़ी; किन्तु तुम्हारे नाज-नखरों का ठिकाना ही नहीं। तुम्हारे सिवा मेरा कौन है?

'अरी कोयल! तेरी आवाज में यह हृदयवेधकता कहाँ से आयी? क्या तूने उस वंशीवाले को देख लिया है? जान पड़ता है तू उससे आवाज उधार लायी है। तूने उस कृष्ण प्यारे को देख लिया है। सच बता, वह हमसे कब और किस तरकीब से मिलेगा? अरी आँखो! यदि तुम श्याम को नहीं देख सकती हो,

तो अभी फूट जाओ! अरे हाथो! यदि तुम कृष्ण-प्यारे के चरणों को नहीं छू सकते, तो मैं तुम्हें रखकर क्या करूँगा? गल जाओ! मर जाओ..........!!' यह कहते-कहते बिलख-बिलखकर रोने लगे। आँसुओं से कपड़े तर-बतर हो गये। रोना बंद ही नहीं होता था! मूर्छित हो गये!

मैं तू हुआ, तू मैं हुआ, मैं देह हुआ तू प्राण हुआ!
अब कोई यह न कह सके, मैं और हूँ तू और है!!

संध्या हो चली है। हिमालय में एक छोटी-सी पहाड़ी पर राम बैठा है। विचित्र दशा है। न तो उसे उदासी नाम दे सकते हैं, न शोक और न दुःख ही। सांसारिक पुरुषोंवाला यह हर्ष भी नहीं है। उसे जागता नहीं कह सकते, सोया भी नहीं कह सकते, कदाचित् यह उन्मत्त हो! परन्तु यह तो सांसारिक उन्माद नहीं है। क्या रस-भीनी अवस्था है! दूर के वृक्षों में से घड़ियाल और शङ्ख की ध्वनि आने लगी है। कदाचित् कोई मन्दिर है! आरती हो रही है। वह देखो, सामने ऊँची पहाड़ी की चोटी से दो-तीन फीट की ऊँचाई पर त्रयोदशी का चन्द्रमा भी अपना शीतल प्रकाशमान मुखड़ा लिये आ रहा है। क्या यह आरती में सम्मिलित होने आया है? सम्मिलित क्यों! यह तो अपने दमकते हुए प्रकाशमान मुख की ज्योति बनाकर अपने आपको सदाशिव पर वार रहा है। आरती-रूप बन रहा है। आहा! सारी प्रकृति आरती में सम्मिलित हो गयी! चारों ओर से कैसी ध्वनि आने लगी? ऐ चाँद! तू आगे बढ़ जानेवाला कौन है? प्यारे! अकेला मत रह! अपनी हड्डियाँ और तन-बदन को आग की तरह सुलगाकर तेरी तरह 'राम' अपने आपको इस आरती में क्यों न वार डालेगा?

मेरे प्यारे का यह भी प्यारा है।
मेरी आँखों का यह भी तारा है!!

जिस प्यार के घूँघट में से कभी हाथ, कभी पैर, कभी आँख और कभी कान कठिनाई से दिखायी देते थे, दिल खोलकर उस दुलारे का आलिङ्गन प्राप्त हुआ! हम नंगे, वह नंगा; छाती पर छाती है। ऐ हाड़-चाम के जिगर और कलेजे! तुम बीच में से उठ जाओ! भेद-भाव हट! फासले भाग! दूरी दूर हो! हम यार, यार हम! यह शादी है कि शादी-मर्ग—आनन्दमयी मृत्यु! आँसू क्यों छमाछम बरस रहे हैं?..........क्या यह विवाह-काल की झाड़ी है अथवा मन के मर जाने का मातम? संस्कारों का अन्तिम संस्कार हो गया! इच्छाओं पर मरी पड़ी! दुःख-दरिद्र उजाला आते ही अँधेरे की तरह उड़ गये। भले-बुरे कर्मों का बेड़ा डूब गया।

आँसुओं की झड़ी है कि अभेदता का आनन्द दिलानेवाली वर्षाऋतु! ऐ सिर! तेरा होना अभी आज सुफल है! आँखो! तुम भी धन्य हो गयीं। कानो! तुम्हारा पुरुषार्थ भी पूरा हुआ! यह आनन्दमय मिलाप मुबारक हो, मुबारक हो, मुबारक हो।

दीवाना अम दीवाना अम अज़ अक्लो-हुश बेगाना अम्।

मैं पागल हूँ, मैं पागल हूँ, बुद्धि और होश से परे हूँ! मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं स्वतन्त्र हूँ, शोक से नितान्त दूर हूँ, संसार-रूपी बुढ़िया के नखरे और हाव-भाव से मैं नितान्त मुक्त और परे हूँ। ऐ संसार-रूपी बुढ़िया! यह सुन, नखरे-टखरे मत कर! तुझमें मेरा चित्त आसक्त नहीं। ओ३म्! ओ३म्!! ओ३म्!!!

प्रेम के अथाह समुद्र में राम सर्वत्र प्रेम ही प्रेम देख रहे हैं—

जिस तरफ़ अब निगाह जावे है!
आप ही आप नज़र आवे है!!

जिस ओर हम दौड़े वह सब दिशाएँ तेरी ही देखीं—अर्थात् सब ओर तू ही था। और जिस स्थान पर हम पहुँचे, वह सब तेरी ही गली का सिरा देखा! जिस उपासना के स्थान को हृदय ने प्रार्थना के लिये ग्रहण किया, उस हृदय के पवित्र धाम को तेरी भ्रू का झुकाव देखा—अर्थात् उस स्थान पर तू ही झाँकता दृष्टिगोचर हुआ। समस्त संसार के प्यारों की मस्त आँखों में हमने जब देखा, तो तेरी जादूभरी नरगिस (आँख) देखी! तुझको हँसते हुए देखकर मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ! पर प्यारे! अधर और दाँतों पर बलिहार!!

प्यारे! तोरे रँग में समाय रही!
और रँग मोहे काले प्रिय होवे, प्रीतम-रँग में लुभाय रही!
मैं पिया! तोरे रँग में समाय रही!!
रंग वही, रँगरेज वही, मैं चटक चुनरिया रँगाय रही!
मैं पिया! तोरे रँग में समाय रही!!
हमरे पिया हम पिय की री सजनी, पिया पर जियरा गँवाय रही!
मैं पिया! तोरे रँग में समाय रही!!

अमृत की मदिरा का प्याला मदिरा पिलानेवाले के हाथ से मैं अत्यन्त अनुराग के साथ लेने की खोज में हूँ और उसके प्रेम में नाचता हूँ। खुल्लमखुल्ला मैं यह कहता हूँ, और अपने इस कहने से प्रसन्न होता हूँ कि मैं प्रेमी पुरुष हूँ और लोक-परलोक दोनों से विमुक्त हूँ।

मैं मस्ती में पागल हुआ फिरता हूँ और संसार की चिंता नहीं करता। मैं दुःखों से बिलकुल भयभीत नहीं हूँ; आनन्द से यह स्वर 'तन तलाला तला-तला' गाता रहा हूँ। जो कुछ संसार में है, मुक्त पुरुषों के लिये निषिद्ध है। हमारी सामग्री और सामान इस आकाश के नीचे केवल सन्तोष है।

सहजो ने ऐसे प्रेमोन्माद का एक बहुत सुन्दर चित्र खींचा है—

प्रेम-दिवाने जे भये, मन भे चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, 'सहजो' देखि हुजूर॥
प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
'सहजो' मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकै नैन॥
प्रेम-दिवाने जे भये, जाति-बरन गइ छूट।
'सहजो' जग बौरा कहै, लोग गये सब फूट॥
प्रेम-दिवाने जे भये 'सहजो' डगमग देह।
पाँव परै कित की कहूँ, हरि सँवारि तब लेह॥
कबहूँ हकधक ह्वै रहैं, उठैं प्रेमहित गाय।
'सहजो' आँख मुँदी रहै, कबहूँ सुधि ह्वै जाय॥
मन में तो आनँद रहै, तन बौरा सब अंग।
ना काहू के संग हैं, 'सहजो' ना कोइ संग॥

'राम बादशाह' कहा करते थे—मैं शाहंशाह राम हूँ। मेरा सिंहासन तुम्हारा हृदय है। मेरी आवाज में तुम्हारी आवाज है—तत्त्वमसि! तत्त्वमसि!! तू ही है वह, तू ही है वह!

No sin, no grief, no pain,
Safe in my happy Self,
My fears are fled, my doubts are slain,
My day of triumph come.

मुझे पाप-सन्ताप से क्या नाता? दुःखों से मेरा क्या सम्बन्ध? मैं अपनी आत्मा में स्वच्छन्द हूँ, सर्वथा मुक्त हूँ, सुरक्षित हूँ, मेरे भय भाग गये, मेरी शङ्काएँ मिट गयीं, मेरी विजय के दिन आ गये!

पहाड़ की चोटी पर किस जोर से ॐ! ॐ!! ॐ!!! की ध्वनि सुनायी दे रही है। अरे पिछली रात के सोनेवालो! क्या यह कूक

तुम्हारे पास नहीं पहुँची ? तुम्हारी नींद अभी तक नहीं खुली ? बादलो ! जाओ, संसार भर में ढिंढोरा पीट दो, 'ॐ' ! बिजली ! दौड़ो ! प्रकाश के अक्षरों में लिखकर दिखा दो, 'ॐ' !! प्रभात की वेला है। खुदमस्ती में झूमता हुआ 'राम' जा रहा है। मौज में किसी समय नाचने लगता है और किसी समय ॐ ॐ ॐ की तान छेड़ने लगता है।

जित देखूँ तित भरया जाम !
पी पी मस्ती आठों याम ॥
नित्य तृप्त सुख-सागर नाम ।
गिरे पड़े हम तो आराम !!
देखा-सुना खपाना काम ।
तीन लोक में है विश्राम !!
क्या सोचे क्या समझे राम ।
तीन काल जिसको निज धाम !!

इस मस्ती में बस राम-ही-राम रह गया है और कुछ है ही नहीं—'राम' नाच रहा है—

नाचूँ मैं नटराज रे, नाचूँ मैं महाराज !
सूरज नाचूँ, तारे नाचूँ, नाचूँ बन महताब रे ।
जर्रा नाचूँ, समुद्र नाचूँ, नाचूँ मोधरा काज रे ॥
तन तेरे मैं मन हो नाचूँ, नाचूँ नाची नाच रे ।
बादर नाचूँ, वायू नाचूँ, नाचूँ नदी अरु नाच रे ॥
गीत राग सब होवत हरदम, नाचूँ पूरा साज रे ।
घर लागो रँग, रँग घर लागो, नाचूँ पाया राज रे ॥
मधुवा छक, मदमस्तीवाला, नाचूँ पी-पी आज रे ।
रामही नाचत, रामही बाजत, नाचूँ हो निरलाज रे ॥

हृदय में शान्ति है और दिल में मस्ती। खुशी से राम का हृदय भरा हुआ है और आँखें आनन्द के अमृत से लबालब भरी हुई हैं। आनन्द के मारे आँसू टपक रहे हैं और रोम-रोम खड़े हो रहे हैं, गला रुक रहा है !

> रिमझिम रिमझिम आँसू बरसें, यह अबर बहारें देता है।
> क्या खूब मजे की बारिश में वह लुत्फ वसल का लेता है !!
> किश्ती मौजों में डूबे है, बदमस्त उसे कब खेना है !
> वह गर्काबी है जी उठना मत, झिझकी उफ ! बरबादी है !!
> क्या ठंढक है, क्या राहत है, क्या शादी है, आजादी है !

× × ×

> जब उमड़ा दरिया उल्फत का, हर चार तरफ आबादी है।
> हर रात नई इक शादी है, हर रोज मुबारकबादी है॥
> क्या ठंढक है, क्या राहत है, क्या शादी है, आजादी है॥

प्रेममद का नशा अत्यन्त चढ़ा हुआ है; इसलिये अब चाहे कोई कुछ कहे, सारा संसार तो मुग्ध हो रहा है। पर यह नशा पागल मनुष्य की पशु-वृत्ति के समान नहीं है। हे जगत् के रोग ! तू अब रुखसत हो। हे भूख-प्यास ! तुम दोनों मेरे पास से परे हटो ! यह जगह कोई कबूतरखाना, अर्थात् तुम्हारे रहने-सहने का घर नहीं है। आहा ! सौन्दर्य की तेज ज्वाला कैसी भड़की हुई है। अब किस परवाने की शक्ति है कि इसके आगे पर भी मार सके ! सूर्य हो चाहे चन्द्र, पाठशाला हो चाहे बाग और पर्वत—इन सबमें अपनी ही सुन्दरता तरंगें मार रही हैं—अन्य किसी रूप की नहीं। हे मेरे प्राणो ! इस देह से उठकर राम के स्वरूप में लीन हो जाओ। और देह ऐसी हो जाय जैसी बद्रीनारायणजी की मूर्ति कि जिसमें बालवत् चेष्टा भी नहीं है।

बसा है दिल में मेरे वह दिलबर, है आईना में खुद आईनागर !
अजब तहय्युर हुआ यह कैसा ? कि यार मुझमें मैं यार में हूँ !!

राम का शरीर गंगा बहाये लिये जा रही है और राम मस्ती में ॐ ! ॐ !! की ध्वनि कर रहा है। आज भी हिमालय के वन-पर्वत, गिरि-गह्वर में स्वामी राम की ध्वनि गूँज रही है। अमेरिका, जापान और मिस्रवाले आज भी उस बादशाह को स्मरण कर भगवत्प्रेम में पागल होकर पूछ बैठते हैं—

O Grave ! where is thy victory ?
O Death ! where is thy sting ?